न-पत्रिका
और नियम

ल हिन्दी साहित्य की सर्वांगीण उन्नति पत्रिका त्मक निबन्धों के अतिरिक्त आलोचनात्मक और ायेगा। हिन्दीतर भारतीय भाषाओं का अध्ययन का क्षेत्र होगा। पत्रिका की दृष्टि हिन्दी सम्बन्धी प्रत्येक समस्या, आन्दोलन तथा [illegible] प्रयोगात्मक अनुसन्धान की ओर रहेगी तथा इन सब क्षेत्रों में आवश्यक समीक्षाओं को स्थान दिया जायगा। आवश्यकतानुसार लेखों के साथ चित्र भी रहेंगे।

नियम—सम्मेलन पत्रिका का वर्ष कार्तिक से आरम्भ होगा तथा पत्रिका त्रैमासिक होगी। पत्रिका में रायल आकार के ९६-१२८ पृष्ठ होंगे। वार्षिक मूल्य ८) और प्रति अंक २) होगा। विद्यार्थियों से वार्षिक चन्दा ६) लिया जायगा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के १२) वार्षिक देने वाले सदस्यों को पत्रिका निःशुल्क भेजी जायगी। पत्रिका में छपने वाले लेख कागज के एक ओर सुस्पष्ट अक्षरों में तथा पंक्तियों के बीच में कुछ स्थान छोड़ कर लिख कर भेजना चाहिए।

सम्मेलन पत्रिका में हिन्दी के अतिरिक्त बंगला, मराठी, गुजराती तथा दक्षिण भारतीय भाषाओं की पुस्तकों की समालोचना भी प्रकाशित करने का प्रबन्ध किया गया है। अतः इन भाषाओं के लेखकों एवं प्रकाशकों से निवेदन है कि वे अपनी पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ सम्मेलन कार्यालय में भेजते रहने की कृपा करें।

आवरण के दूसरे से ले कर चौथे पृष्ठ तक सुरुचिपूर्ण एवं स्वस्थ विज्ञापन छापे जा सकेंगे। दर के सम्बन्ध में सम्पादक से पत्र-व्यवहार करें।

पत्र-व्यवहार सम्पादक, सम्मेलन पत्रिका, साहित्य विभाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के पते पर करना चाहिए।

सम्मेलन-पत्रिका

[भाग—३८, संख्या—२]
चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, संवत् २००९

सम्पादक
श्री रामनाथ 'सुमन'

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

विषय-सूची

श्री रामनाथ 'सुमन'

युगों बाद तुम आज फिर याद आये !

विरल श्याम रेखा घनी हो गई है
व्यथा की भरी नींद भी खो गई है
हुआ आज स्मृतिमय हृदय यामिनी में
अबोला पपीहा युगों बाद चीखा
गगन ने बुझे दीप फिर से जलाये,
युगों बाद तुम आज फिर याद आये।

उघड़कर हृदय का भरा घाव बोला
कराहा कलेजे का मूर्छित फफोला
सिसक ही उठी प्राण की मौन वाणी
भरे नील नीरद नयन-कोरकों ने
तुम्हें याद कर आज आँसू बहाये,
युगों बाद तुम आज फिर याद आये।

जगी आज सोये युगों की कहानी
विकल हो उठी आँख मलती जवानी
बँधी जिन्दगी में पुनः ज्वार आया,
गिरे कल्पना के जराजीर्ण बंधन
पुनः प्राण ने वे मधुर गान गाये,
युगों बाद तुम आज फिर याद आये।

जगी ज्योतिमाला, खिले प्राण-शतदल
मिटी एक क्षण में हृदय की अँधेरी
खिची एक तस्वीर-सी, भावना से
हुई वंदना आज साकार मेरी
जली आरती, स्नेह का दीप विह्वल
बुझे प्राण ने दीप शत-शत जलाये।
युगों बाद तुम आज फिर याद आये॥

श्री परशुराम चतुर्वेदी एम० ए०, एल-एल० बी०

कबीर साहब का रहस्यवाद

'रहस्यवाद' शब्द काव्य की एक धाराविशेष को सूचित करता है। वह प्रधानतः उसमें लक्षित होनेवाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष, गंभीर एवं तीव्र अनुभूति के साथ संबध रखती है। इस अनुभूति का वास्तविक आधार अन्तर्हृदय हुआ करता है जो वैयक्तिक चेतना का मूलस्रोत है और इसमें 'अहम्' एव 'इदम्' की भावना का क्रमशः लोप हो जाता है। इसकी तीव्रता इतनी अधिक मात्रा की हो जाती है कि अनुभवकर्ता को अनुभूत वस्तु के साथ पूरे तादात्म्य का भान होने लगता है। वह उसके रंग मे पूर्णतः रँग-सा जाता है और उसके द्वैतपरक संस्कारों के रहते हुए भी उसके उद्गारों मे अद्वैतसूचक भावो का समावेश हो जाता है। जिस प्रकार किसी लोहे को तपा देने पर अग्नि की उष्णता उसमें सर्वत्र ओत प्रोत हो जाती है अथवा जिस प्रकार किसी स्वच्छ शीशे के भीतर की ज्योति उसे पूर्णतः ज्योतिर्मय बना देती है उसी प्रकार उक्त अनुभूत वस्तु उसके रोम-रोम में घर कर लेती है और वह और का और हो जाता है। उसकी अनुभूति स्वानुभूति का सा रूप ग्रहण कर लेती है और ज्ञाता एव ज्ञेय का यह एकीकरण उसे एक विचित्र दशा मे ला देता है। फिर तो वह वस्तु प्रत्यक्षवत् प्रतीत होती हुई भी उसके लिए अगम्य सी जान पड़ने लगती है और उसके अनुभव की अभिव्यक्ति मे स्वभावतः अस्पष्टता आ जाती है। अतएव, रहस्यवाद का रहस्य शब्द जिस प्रकार काव्यगत वस्तु (Matter) के अनुसार सार्थक है उसी प्रकार उसके विधान (form) की दृष्टि से भी उपयुक्त कहा जा सकता है और उसी की विशेषता उसे अन्य काव्यधाराओंसे पृथक् भी करती है।

रहस्यवादी कवि की अनुभूति उसे एक दार्शनिक अद्वैतवादी की कोटि में ला देती है, किंतु वस्तुतः वह अद्वैतवादी नही रह पाता। अद्वैतवादी की तार्किक मनोवृत्ति उसे अनेक से एक की ओर ले जाकर किसी शन्यवत् अज्ञेय वस्तु तक पहुँचा देती है और वह अवाक् रह जाता है। किंतु रहस्यवादी की दशा इस प्रकार की नहीं रह पाती। वह उस वस्तु तक अपनी अन्तर्दृष्टि के सहारे प्रवेश करता है और उसके साथ तन्मयता के आनन्द में मग्न भी हो जाता है। वह दशा उसे कुछ विचित्र सी लगने लगती है और उसे वह, आपसे आप, प्रकट भी करने लग जाता है। उसे इस बात में पूरी आस्था रहा करती है कि मैं अपनी अनुभूत वस्तु मे, समुद्र मे एक बूंद के समान, विलीन हो चुका

हूँ अथवा उस समुद्र ने ही मुझ बूँद में प्रवेश कर मुझे समुद्रवत् बना लिया है। दोनों के बीच पूरी समरसता का भाव आ जाने के कारण, उस दशा को किन्हीं शब्दों में प्रकट करना एक असंभव सी बात है, किंतु अभिव्यक्ति की अंतःप्रेरणा उसे फिर भी चैन नहीं लेने देती। अतएव, इस कार्य में कुछ सुगमता लाने के विचार से वह अपनी अनुभूत वस्तु के पृथक अस्तित्व की कल्पना करने लग जाता है। उसे इस प्रकार की कृत्रिम दशा में भी सदा उसी आनंद की अनुभूति हुआ करती है जो उसे पहले उक्त समरसता की स्थिति मे उपलब्ध थी। कहा भी है कि,

जाते समरसानन्दे, द्वैतमप्यमृतोपम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मा परमात्मनोः ॥

अर्थात् समरसता की स्थिति एक बार आ जाने पर दो मित्रों अथवा स्त्री पुरुष के पारस्परिक संबध सा दीख पड़नेवाला जीवात्मा एव परमात्मा के बीच का द्वैतभाव भी अमृतवत् आनंदप्रद हो जाता है। रहस्यवादी, इस प्रकार, अपनी अनुभूत वस्तु को एक अनुपम व्यक्तित्व प्रदान कर देता है और उसके प्रेमात्मक सबंध-द्वारा अपने आत्म प्रकाशन मे प्रवृत्त हो जाता है।

वास्तव मे एक रहस्यवादी कवि की दृष्टि मे उक्त अद्वैतवाद अथवा द्वैतवाद का प्रश्न कोई महत्व नही रखता। इसलिए अद्वैतवादी सस्कार का कवि जहाँ उक्त प्रकार से एक द्वैतवादी के समान चेष्टा करता है वहाँ द्वैतवादी भावनाओं द्वारा प्रभावित कवि भी यहाँ अद्वैतवादी सा बन जाता है और इस बात मे उन्हे किसी प्रकार का वैषम्य नही जान पड़ता। 'गिरधर गोपाल' की मूर्ति की उपासना मे सदा निरत रहनेवाली मीराबाई अपने रहस्यपूर्ण भावों को, 'छोड मिली तन गाती' जैसे उद्गारो द्वारा प्रकट करने की ओर प्रवृत्त हो जाती है और 'खुदा' को किसी 'अर्श' के सिहासन पर आसीन देखनेवाले मजहबे इस्लाम के संस्कारो मे पला सूफी हल्लाज, इसके प्रभावों मे आकर 'अनलहक' का नारा लगाने पर तुल जाता है। रहस्यवाद इस प्रकार उस अपूर्व साम-जस्य की ओर भी सकेत करता है जो प्रत्यक्षतः दीख पड़नेवाले पूर्ण अद्वैत एव द्वैत के परस्पर विरोधी भावो के बीच भी संभव हो सकता है और जिसकी रहस्यमय स्थिति को स्पष्ट शब्दों में प्रकट करना अत्यत कठिन बात है।

कबीर साहब की रचनाओं द्वारा प्रकट होता है कि दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार वे एक शांकराद्वैतमत के अनुयायी थे। वे केवल एकमात्र एवं निरपेक्ष (Absolute) परम तत्व के अस्तित्व में विश्वास रखते थे और जगत् को अनित्य एव भ्रमात्मक माना करते थे। उस वस्तु का परिचय वे कभी कभी 'अद्भुत' शब्द द्वारा दिया करते थे और उसकी गति को 'अगम' ठहराते थे।[1] इसलिए उनका यहाँ तक कहना था,

---

१. कबीर ग्रन्थावली : साखी ३-४, पृ० १८।

वोहै तैसा वोही जानै, ओही आहि आहि नहीं आनै।
नैनां बैन अगोचरी, श्रवनां करनी सार।
बोलन कै सुख कारनें, कहिये सिरजनहार ॥[१]

अर्थात् वह जैसी है वैसी उसी को विदित है तथा उस अगोचर एवं अगम्य वस्तु का शब्दों द्वारा वर्णन केवल कामचलाऊ ढंग से ही किया जाता है। जीवात्मा द्वारा किए गए परमात्मतत्व के अनुभव को वे इसी कारण, उन दोनों का पूर्णतः 'एकमेक ह्वै मिल'[२] रहना ही बतलाते थे। फिर भी उन्हें केवल इतना कह देने मात्र में ही संतोष न था। वे उसके साथ अपना संबंध निरूपित करते समय उसे पूर्ण व्यक्तित्व भी प्रदान कर देते थे। उदाहरण के लिए वे उसके विषय में कभी कभी 'सो दोसत किया अलेख'[३] कहा करते थे तो अन्यत्र 'हरिगुर पीर हमारा'[४] भी कह देते थे। इसी प्रकार यदि कई स्थलो पर उसके लिए 'हरि मेरा पीव मै हरि की बहुरिया'[५] जैसे कथन करते थे तो कभी कभी उसके प्रति 'हरि जननी मै बालक तेरा'[६] भी कह डालते थे और ऐसे प्रतीको का सहारा उन्होंने बार बार लिया है।

परमात्मतत्व की अनुभूति का परिचय प्रायः उसकी तीन विभिन्न स्थितियों के वर्णन द्वारा दिया जाता है। सर्व प्रथम उसके लिए विरह जागृत होने की दशा आती है जो किसी गुरु की सहायता द्वारा ही संभव है। गुरु किसी साधक को उस वस्तु की उपलब्धि के लिए सचेत कर देता है और उसके भीतर एक प्रकार की पिपासा जागृत कर देता है जिसकी तृप्ति के लिए वह बेचैन हो जाता है। यह दशा किसी दार्शनिक के लिए एक प्रबल जिज्ञासा के ही रूप में हो सकती है, किन्तु साधक के लिए वह पूरा आर्त्तभाव बन जाती है। यह अपनी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए किसी प्रकार के भी कष्ट झेलने को उद्यत हो जाता है और उसके अभाव से सदा तडपता रहा करता है। उस अनुभूति की दूसरी क्रमिक अवस्था तब आती है जब साधक को उस तत्व का परिचय मिल जाता है। इस दशा में पहुँचने पर उसके हृदय में एक प्रकार का विचित्र आह्लाद उत्पन्न हो जाता है जो उसे वस्तुतः आनन्दविभोर कर देता है। यह मध्य की स्थिति ही वह प्रत्यक्ष एवं गंभीर अनुभूति है जिसकी अभिव्यक्ति सदा दुष्कर हो जाया करती है। अद्वैतवादी दार्शनिक इसे आत्मज्ञान की सज्ञा देते है और सूफी इसी को 'फ़ना' की स्थिति द्वारा व्यक्त किया करते हैं। इसके आगे

---

१. कबीर ग्रन्थावली साखी पृष्ठ २४१
२. वही सा० ३, पृ० ४२।
३. वही सा० १३, पृ० १२।
४. वही पद २५९, पृ० १७६।
५. वही पद ११७, पृ० १२५।
६. वही पद १११, पृ० १२३।

की अथवा अंतिम दशा वह स्थिति है जब साधक के जीवन में पूरा कायापलट हो जाता है और वह सिद्धावस्था को पहुँच जाता है। अद्वैतवादी लोग इसी को जीवनमुक्त की दशा कहा करते हैं और कबीर साहब ने यहाँ तक पहुँचे हुए महा पुरुषों को ही 'सत' नाम से अभिहित किया है।

सूफी रहस्यवादी कवियों ने उक्त आध्यात्मिक अनुभूति की विविध दशाओं का वर्णन प्रेमगाथाओं की सहायता से किया है। वे लोग उपर्युक्त प्रथम स्थिति का वर्णन बड़े विस्तार के साथ देते है। और प्रेमियों की कठिनाइयो के हृदयद्रावक चित्र खींच कर उसमें पड़नेवाली विघ्नबाधाओं की दुर्दमनीयता की ओर सकेत भी करते है। वे दूसरी दो स्थितियों का वर्णन बहुत कम किया करते है और कभी कभी तो दूसरी का केवल उल्लेख मात्र सा करके तीसरी का नाम तक नही लिया करते। उनकी प्रेम-कहानी का प्रवाह स्वभावतः उक्त दूसरी स्थिति तक ही आकर धीमा पड़ जाता है और उसके तीसरी तक पहुँचने की कोई नौबत ही नही आती। कबीर साहब ने इसके विपरीत उक्त तीनों स्थितियों का वर्णन प्रायः एक समान भाव से किया है। इसके लिए किसी प्रकार के बाहय साधनों का सहारा लिये बिना ही उन्हें अपने निजी अनुभवो के रूप में दर्शाया है। विषय की दुरूहता एवं व्यक्तीकरण की कठिनाई ने उन्हें भिन्न भिन्न प्रतीकों का आश्रय लेने को बाध्य अवश्य किया है, किन्तु वहाँ भी उन्होंने भरसक वैसा ही प्रयत्न किया है जिससे किसी का ध्यान वर्ण्य विषय से विपरीत दिशा को न जा सके। रूपक अथवा कथारूपक एवं प्रतीकों के प्रयोगों में एक महान् अंतर यही पाया जाता है कि पहले जहाँ बहुधा किसी मस्तिष्क की ही उपज हुआ करते है और उनकी उपयुक्तता का आधार केवल सादृश्य हुआ करता है वहाँ दूसरे का मूल स्रोत गहरी अनुभूति हुआ करती है जो उन पर अपनी विशेषता का पूरा रंग चढ़ा देती है और वे उसके तद्रूप से लगने लगते है। ये वर्ण्य वस्तु केवल अनुधर्मी बनकर ही नही आते अपितु उसके पूरे सहधर्मी का रूप ग्रहण कर उसका परिचय कराते हैं।

कबीर साहब अपनी रहस्यानुभूति की प्रथम दशा का वर्णन करते समय बतलाते है "मेरे सतगुर ने मुझे एक विचित्र से शब्दबाण द्वारा घायल कर दिया और उसकी चोट ऐसे मर्मस्थल पर लगी कि उसके कारण मुझे गूढतत्त्व सूझ गया।"[१] "मैं अज्ञान के अंधकार मे डूब रहा था कि सतगुर के शब्द मेरे सामने बिजली की भाँति कौध गये और उनके प्रकाश में अपनी स्थिति का परिचय पाते ही मै सँभलकर उससे बाहर आ गया और मैंने अपनी पूर्व दशा का परित्याग कर दिया।"[२] इसी प्रकार वे अन्यत्र कहते है, "सतगुर ने उस 'अनत' को देखने के लिए मेरे अनन्त नेत्र खोल दिये।"[३] "सतगुर ने मुझ से एक ऐसा प्रसग बतलाया जिसके जानते ही मेरे ऊपर प्रेम-वर्षा हो गई और मेरा

---

१. **'कबीर ग्रन्थावली'**, सा० ७, पृ० १

२. वही, सा० २५, पृ० ३।

३. वही, सा० ३, पृ० १।

प्रत्येक अंग भीग गया।"[१] "प्रेम के बादल मेरे ऊपर बरस गये और मेरी आत्मा भीतर तक भीग कर उसमें सराबोर हो गई।[२]" जिससे पता चलता है कि उन्हें उक्त दशा का प्रथम अनुभव यकायक हुआ था और वह पूर्णतः गंभीर भी था। वे इसके स्वरूप का वर्णन, अनेक प्रकार से, करने के प्रयत्न करते हैं और प्रत्येक बार गहराई तक जाकर उसे व्यक्त करना चाहते हैं। वे उसकी सुखद स्मृति द्वारा इन वर्णनो के समय भी प्रभावित प्रतीत होते है और जान पडता है कि वह दशा एक बार फिर लौट आई है।

परन्तु इस दशा का एक अन्य रूप भी उनके सामने फिर शीघ्र ही आ जाता है। उक्त प्रकार से अपनी अंतरात्मा के रोम रोम तक भीग चुकने पर भी उन्हें पूरी तृप्ति हुई नहीं दीखती और उन्हें एक प्रबल पिपासा अभिभूत कर लेती है। वह पूर्व स्मृति उनमे स्थायी रूप से नही बनी रहती और न अपने पूर्व के अनुभव का आनन्द उन्हे किसी प्रकार शात ही रहने देता है। वे उसके कारण और भी उत्तेजित हो उठते है और उनकी अतृप्त अभिलाषा उन्हें बेचैन कर देती है। वे उस पूर्व झलक को भरपूर देखना चाहते है और उसका निरा क्षणिक अभाव भी उन्हे विरहकातर बनाकर एक असहाय की गति में ला देता है। वे अब चाहते हैं कि उसका पूर्ण अनुभव एक बार अवश्य करूँ चाहे उसके लिए मुझे अधिक से अधिक त्याग करने की भी आवश्यकता क्यों न पड़ जाय। वे इसके लिए "अपने शरीर को एक दीपक सा बना देना चाहते हैं जिसमे उनके प्राणो की बत्ती जल रही हो और जो उनके लोहू के तेल से भरा हुआ हो, जिससे उसके प्रकाश मे वे अपने इष्ट की एक झाँकी देख सकें।"[३] "वे मन ही मन सदा रोया करते हैं और वह अपूर्व की स्मृति उनके भीतर जागृत हो होकर उन्हें इस प्रकार खोखला करती जा रही है जैसे घुन किसी काठ को खाया करता है।"[४] "वे उस वस्तु की खोज में पर्वतों तक दौड़ लगाते हैं और उनके नेत्र सदा रोते रहने के कारण जवाब देने लगते है, फिर भी उन्हें वह सजीवनी बूटी प्राप्त नही होती"[५] और वे निरतर घुल घुलकर मरा करते हैं। इस मनोव्यथा का चित्रण भी उन्होंने अनेक ढग से किया है। रहस्यवादी कबीर साहब की यह वह दशा है जिसमे वे, अपनी इष्ट वस्तु की सम्यक् उपलब्धि न हो सकने के कारण, पड़ गए है। सूफी कवि जायसी ने उक्त पूरी प्रथम स्थिति का वर्णन अपनी 'पदमावत' मे, हीरामन सूए के द्वारा पद्मावती का रूपवर्णन सुनकर बेसुध हो जाने तथा अनेक कष्टो को झेलते हुए भी विरह दशामें पडे रहनेवाले राजा रत्नसेन की अनुभूतियो के रूप मे किया है।

---

१. 'कबीर ग्रन्थावली', सा० ३३, पृ० ४।
२. वही, सा० ३४, पृ० ४।
३. वही, सा० २३, पृ० ९।
४. वही, सा० २६, पृ० ९।
५. वही, सा० ४०, पृ० १०।

रहस्यवादी के अनुभव की दूसरी अथवा प्रधान स्थिति उसके उक्त प्रकार से विरह द्वारा तपाये जाने पर ही आती है। कबीर साहब ने इस दशा का भी वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों द्वारा किया है और यहाँ पर भी वे एक ढंग को छोड़ कर दूसरे को अपनाते हुए दीख पड़ते हैं। उदाहरण के लिए कभी कभी वे उसे किसी प्रखर ज्योति के अनुभव के रूप में प्रकट करते हैं और कहते हैं "उस अनंत का तेज अनेक सूर्यों के समान जान पड़ता था और पत्नी ने उस दृश्य को अपने पति के संग जागृत होकर देखा। वह तेज नितांत अशरीरी था और प्रकाश, बिना सूर्य अथवा चन्द्र के ही, हो रहा था, दास अपने स्वामी की सेवा में आनदविभोर होकर लगा हुआ था। परब्रह्म के उस तेज की समता किस वस्तु के साथ दूँ, वह शोभा कहने की नहीं है, उसे देखते ही बनता है।"[१] फिर वे कहते है "उस असीम वस्तु को मैंने अपनी सीमा के बाहर जाकर और उसके निकट निरंतर निवास करके देखा और उसे पु प न होते हुए भी, पुष्पित कमल के रूप में पाया। वह कमल बिना किसी सरोवर के ही पुष्पित हो रहा था और मेरा मन उसमें एक भ्रमर की भाँति, सदा के लिए रम गया।"[२] तथा "उस समय निर्मल सूर्य के प्रकाश में कमल फूला हुआ था, रात का अंधेरा दूर हो गया था और अनहद का स्वर गूंज रहा था।"[३] और इसी प्रकार अन्यत्र वे उसे मोतियों के किसी ढेर के रूप में पाते हैं जो बिना किसी समुद्र एवं सीप के अथवा स्वाती बूंद के भी रहते शून्यशिखर के ऊपर गढ़ के भीतर उत्पन्न हुआ था।[४]

इसके अनतर कबीर साहब उस वास्तविक ढगका भी परिचय देते है जिस प्रकार उक्त दशा उन्हे उपलब्ध हुई और वे कहते हैं "उस समय सूर्य जैसे चद्र मे प्रवेश कर गया अथवा पिगला नाड़ी जैसे ईड़ा के भीतर समा गई तथा दोनों की स्थिति एक हो गई और मेरे मन की चिता जाती रही।"[५] इसी प्रकार "मैं सीमा का उल्लंघन कर निस्सीम तक पहुँच गया और शून्य के सरोवर में स्नान करके वहाँ पर विश्राम करने लगा जहाँ मुनियों तक की गति नहीं है।"[६] "उस समय मेरे शरीर मे प्रेम का प्रकाश हो रहा था, उसमें अनेक प्रकार की सिद्धियां जाग्रत हो चुकी थी; मेरा संशय दूर हो चुका था और मेरा प्रियतम मिल चुका था।"[७] "मेरे मनका उस मन के साथ जब मिलन हुआ तो दोनोही इस प्रकार घुलमिल गए जैसे नमक पानी में और

---

१. 'कबीर ग्रन्थावली' सा० १, २ व ३, पृ० १२।
२. वही, सा० ५ व ६ पृ० १२-१३।
३. वही, सा० ४३, पृ० १६।
४. वही, सा० ८ पृ० १३।
५. वही, सा० १० पृ० १३।
६. वही, सा० १२, पृ० १३।
७. वही, सा० १३ पृ० १३।

पानी नमक में एकरूप हो जाते हैं। पानी पहले बर्फ बन गया था और वह फिर बर्फ से पानी में परिणत हो गया। जो कुछ पहले था वही एक बार फिर हो गया; अब उसके विषय में क्या कहा जाय।"[१] "सुरति निरति में प्रवेश कर गई और निरति निराधार बन गई। जाप अजपा में समा गया, लेख अलेख में चला गाया और आपा आपमें मिल गया।"[२] उस समय "मैं जी खोल कर गाढ़ालिंगन कर रहा था और अधीर सा बन गया था, भला यह दशा दो शरीरों के रहते किस प्रकार संभव हो सकती थी!"[३] फिर इसका प्रत्यक्ष फल यह हुआ "'जो भीतर की ज्वाला थी वही पानी में परिणत हो गई और इस प्रकार जलती हुई आग आपसे आप बुझ गई।"[४] "हंस अबसे मानसरोवर में क्रीड़ा करने लगा और स्वच्छंद बनकर मोती चुगने लगा। अब कहीं अन्यन्त्र जाने का नाम तक नहीं लेता था।"[५] "अब मन अपना स्थान पाकर स्थिर हो गया था और उस त्रिभुवन के स्वामी ने मेरे हृदय में एक अनिर्वचनीय परिवर्तन कर दिया था।"[६] "उस समय अनहद का बाजा बज रहा था, अमृत रस की अखंड वर्षा हो रही थी, उस अकथनीय के भीतर प्रकट होते ही ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होगया था और प्रेमध्यान लग चुका था।"[७] वास्तवमें "जब तक मुझ में 'अहम्' का अस्तित्व था तब तक हरि नहीं थे और अब हरि के उसमें आते ही 'अहम्' का लोप हो गया। उस दीपक का प्रकाश होते ही मेरे भीतर का अंधकार निःशेषतः दूर हो गया और मैं आनंदित हो उठा।"[८]

कबीर साहबने इस 'परचा' अथवा अपरोक्षानुभूति का वर्णन वरवधू की विवाह विधि के द्वारा भी किया है। वे कहते हैं "राजा राम अब मेरे घर भर्तार के रूप में आ गए। अब मैं अपना तन मन उनके प्रति न्योछावर कर दूँगी। पचतत्त्व बराती बन जायंगे और मैं अपने यौवन के उमंग में उन्मत्त हो जाऊंगी। नाभि-कमल विवाह विधि की वेदी बन जायगा, ब्रह्म वाणी (अनाहत) उच्चरित होने लगेगी और मैं अपने राम के साथ भाँवरे लेने लगूँगी। मेरा धन्य भाग्य है कि इस विवाह विधि को देखने तैंतीस करोड़ देवता और अठासी सहस्र मुनिवर भी आ उपस्थित

---

१. कबीर ग्रन्थावली सा० १७, पृ० १३।
२. वही, सा० २३, पृ० १४।
३. वही, सा० २५, पृ० १४।
४. वही, सा० ३१, पृ० १५।
५. वही, सा० ३९, पृ० १५।
६. वही, सा० २९, पृ० १४।
७. वही, सा० ४४, प० १६।
८. वही, सा० ३५, प० १५।

होंगे और मैं उस एक मात्र अविनाशी के साथ व्याह कर लूंगी।"[1] वे फिर कहते हैं "मैंने अपने प्रियतम को बहुत दिनों के अनंतर पाया है। मेरे घर में अब पूर्ण प्रकाश हो गया है और मैं अब उसे अपने घर में सौभाग्यवश बैठे बैठे ही पाकर उसके साथ सो गई हूँ।"[2] अब वे इस आनंद की स्थिति में बराबर बना रहना चाहते हैं और आगे कहते हैं "हे प्रियतम, तुझे मैंने बहुत दिनों तक की विरहयातना झेलकर, सौभाग्यवश अपने घर में बैठे बैठे ही, पा लिया है। अब तुझे मैं किसी प्रकार भी जाने न दूंगी। चाहे जिस प्रकार से संभव हो, तू मेरे ही साथ बना रह और जैसे हो तैसे मेरे साथ आत्मीयता का भाव बनाये रह। मैं तेरे चरणों में पड़कर तुझे हठपूर्वक रोक लूंगी और अपने प्रेम मे उलझाये रहूँगी। मेरे मनोमंदिर में तू सुखपूर्वक पड़ा रह और कभी किसी प्रकार के धोखे मे न पड़।"[3] कबीर साहब का उस परमात्मतत्त्व को इस प्रकार उसकी पत्नी बनकर अपने प्रियतम के रूप में अपनाना जायसी जैसे सूफी कवियों की परंपरा के नितांत विरुद्ध पड़ता है जिसके अनुसार वे खुदा को अपनी प्रियतमा के रूप में देखते हैं और उसी विचार से प्रेमगाथाओ की क पना भी करते हैं।

कबीर साहब इसके अनतर रहस्यानुभूति की उस तीसरी स्थिति का वर्णन करते जान पड़ते हैं जो आध्यात्मिक जीवन का अंतिम विकसित रूप है और जिसमे पहुँचा हुआ साधक अपनी सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है। उसमें आते ही मनुष्य की मनोवृत्ति में पूर्ण परिवर्तन हो जाता है और उसके जीवन मे इस प्रकार कायापलट आ जाता है कि वह मूलतः और का और हो जाता है। वे कहते है "जिस समय मेरे मन का भ्रम, उसमें परिवर्त्तन आते ही, दूर हो गया और हरि मेरे सामने सहज हृदय में ही केलि करते दीख पड़े उस समय मुझे इस बात का बोध हो गया कि 'मैं' एवं 'तैं' अथवा 'अहम्' एवं 'इदम्' नाम की भावनाओं में कोई अंतर नही है और प्रत्येक घट में उस अखंड का ही अस्तित्व है।"[4] इसी प्रकार "जब मेरी आँखों में आकर वह जम गया तो मुझे भान होने लगा कि सारे ब्रह्मांड में केवल वही एक ओतप्रोत है और उसके अतिरिक्त इस विश्व मे कोई नही तथा उसी एक को मैंने सभी घटों में प्रत्यक्ष कर लिया।"[5] इस प्रकार के उल्लेखों द्वारा वे अपने इष्ट के ही रूप को सभी सांसारिक पदार्थों के रूप में देखने के अभ्यास का परिचय देते हैं और एक प्रकार के सर्वात्मवाद की ओर संकेत करते हैं। यह सर्वात्मवाद उनकी गहरी स्वानुभूति का परिणाम है जो उन्हें सबको ही आत्मवत् अनुभव करने के लिए प्रेरित करता है। पृथ्वी के जल, स्थल, अचर, चर एवं नभोमंडल के सूर्य, चंद्र तथा नक्षत्रादि सभी कोई इस दृष्टि से निजी अपने और सजीव से भी जान पड़ते हैं।

---

१. कबीर ग्रन्थावली' पद १ पृ० ८७।
२. वही, पद २, पृ० ८७।
३. वही, पद ३, पृ० ८७।
४. कबीर ग्रन्थावली' पद २०३ पृ० १५७।
५. वही, पद ३०, पृ० ९८।

जायसी आदि सूफी रहस्यवादी कवियों ने भी इस प्रकार की भावनाओं का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है। परन्तु वे ऐसा अधिकतर उन अवसरों पर करते हैं जब कि उनका प्रेमी अपनी प्रियतमा के विरह में सन्तप्त रहा करता है। उस दशा में, उनके अनुसार, विश्व के सभी पदार्थ उसके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करते जान पड़ते हैं क्योंकि वे सभी उसके द्वारा प्रभावित हो जाते हैं। 'पदमावत' के प्रेमयोगी रत्नसेन के विरहव्यथित हृदय का प्रभाव सूर्य, चन्द्र, वृक्ष, पक्षी, पत्थर एवं चट्टान सभी पर पड़ा हुआ दीखता है। इसी प्रकार उसकी विरहिणी पत्नी नागमती के आँसुओं से सारी सृष्टि भीगी हुई जान पड़ती है। ये कवि, उसी व्याज से, सारी सृष्टि को भी उसी प्रकार के विरह भाव में लीन होकर परमात्मा की ओर बढ़ती हुई दिखलाना चाहते हैं। परन्तु इस प्रकार के वर्णन प्रायः पूर्व परम्पराओं का ही अनुसरण करते हैं और ये एक प्रकार से उस Pathethic Fallacy अर्थात् करुण मिथ्याभास के ही उदाहरण समझे जा सकते हैं जो लगभग सभी देशों और भाषाओ के काव्यों के अन्तर्गत न्यूनाधिक पाये जाते हैं। कबीर साहब ने भी कहीं-कही इस प्रकार के उल्लेखों के प्रयोग किये हैं और कुंज, पपीहा एवं चकई जैसे पक्षियों के नाम तक लिये हैं। परन्तु सर्वात्मवाद का रहस्यवादी भाव वस्तुतः उस दशा मे ही संभव हो सकता है जब उक्त दूसरी स्थिति की अनुभूति पूरी हो चुकी हो और जब उसके कारण मनोवृत्ति पूर्णतः परिवर्तित होकर वैसा दृश्य आपसे आप उपस्थित करने लगती हो।

सूफी रहस्यवादी कवियों ने अपनी प्रेमगाथाओं के नायको के मार्ग में पड़नेवाली विविध कठिनाइयों का वर्णन भी बड़े विस्तार के साथ किया है। उन्होने उन कठिनाइयों को 'इश्क़ हक़ीक़ी' की उपलब्धि के निमित्त साधना करनेवालों की विविध बाधाओं का प्रतिरूप माना है और बतलाया है कि जिस प्रकार अपनी प्रियतमा की खोज में अग्रसर होने वाले प्रेमियों को अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं उसी प्रकार उक्त साधक के मार्ग में भी पग-पग पर विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है और वे बड़ी कठिनाई के साथ उसमें सफलता प्राप्त कर पाते हैं। कबीर साहब ने भी इस प्रकार की विघ्न-बाधाओं के उल्लेख अनेक स्थलों पर किये हैं और उनसे अपने को बचाकर रहने का उपदेश दिया है। ऐसी बाधाओं में उन्होंने संशयग्रस्त मन, पारिवारिक संबंध, कनक कामिनी के प्रति आसक्ति एवं अन्य प्रकार के भी विभिन्न मोहादि को सम्मिलित किया है। वे कहते हैं "जिस घट में संशय ने घर कर रखा है उसमें राम का प्रवेश एक असंभव सी बात है क्योंकि राम के प्रेमी और संशय दोनों का साथ नही हो सकता।"[१] इसी प्रकार "जिसे विषयों से प्रेम है उसके भीतर हरि आ नहीं सकते और जहाँ हरि का निवास है वहाँ विषयों की पहुँच नहीं हो सकती।"[२] "संसार अपने पराये

१. 'कबीर ग्रन्थावली' सा० १४ पृ० ५२। २. वही, सा० १३, पृ० ५२।

के बंधन में विवश होकर बँध जाता है और अपने कुटुंब के पुत्र कलत्रादि की 'दाभण' बार बार सहा करता है।"[1] कबीर साहब के अनुसार ये सभी मायाजाल की विविध कड़ियाँ हैं। वह माया बड़ी विषमुँही है और वह साधक एवं हरि के बीच सदा बाधाएं उपस्थित किया करती हैं।"[2] वह उनके अनुसार एक "ठगिन है जो बीच बाजार अपना जाल लिए बैठी रहती है।"[3]

परन्तु यह माया केवल एक ही रूप में नही दीख पड़ती प्रत्युत अनेक भेष धारण किया करती है। अतएव, यह संभव नही कि वह किसी साधक के समक्ष उसकी अनुभूति की एक प्रथम स्थिति में ही उपस्थित हो और उक्त दूसरी स्थिति के अनन्तर उसे अपने प्रभाव से मुक्त कर दे। कबीर साहब का कहना है "मैं माया का त्याग करना चाहता हूँ किंतु मेरे लाख प्रयत्न करने पर भी वह मुझे नही छोड़ती। और मेरे सामने आदर एवं मान के रूप मे आती है, वह जप तप एवं योग का रूप ग्रहण करती है और वह जल, स्थल एवं आकाश में मेरे चतुर्दिक विद्यमान रहा करती है और ऐसी दशा में उस पर विजय प्राप्त कर लेना राम के आश्रय पर रहने से ही संभव हो सकता है।"[4] मान तो इनमें सबसे अधिक बली है "माया के अन्य सभी अंगों को हम कदाचित् त्याग भी दें, किंतु इससे क्या होता है? मान का भाव सूक्ष्म रूप से सदा बना रहता है। वह किसी प्रकार भी छोडा नही जा सकता। मान के कारण अनेक बड़े बड़े महामुनियों तक का पतन हो गया। यह सभी को खा जाता है।"[5] और यह प्रायः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसका आक्रमण अधिकतर उक्त दूसरी स्थिति के अनन्तर ही संभव हुआ करता है। परन्तु सूफी रहस्यवादी कवियों ने इस प्रकार की बाधाओं की ओर कोई ध्यान नही दिया है और इस दृष्टि से उनका वर्णन कुछ अधूरा सा जान पडता है। ईसाई मिस्टिक संतों ने विघ्न बाधाओं के दोनों अवसरों की चर्चा की है और उन्हे साधकों की अनुभूति की Dark Nights (अंधेरी रात) कहा है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि उक्त दोनों प्रकार की रातों में से दूसरी ही Darker (अधिक अंधेरी) हुआ करती है। कारण यह है कि पहली का अवसर उस समय आता है जब साधक बहुत कुछ अपने अज्ञान एवं विवशता की दशा में रहता है और उसे वैसा धक्का नही लगा करता, किंतु दूसरी का अवसर उस समय आया करता है जब कि उसे अपने मार्ग का पूरा परिचय मिल गया रहता है और उसे जानकर भी गिर जाना पड़ता है। कबीर साहब ने उक्त दूसरे अवसर पर आक्रमण करनेवाले मान अथवा यश एवं कीर्ति के लालच को इसी कारण अत्यंत बलिष्ठ ठहराया है। यह मान बड़े से बड़े लोगों

---

१. 'कबीर ग्रन्थावली' सा० २२ पृ० ३८।
२. वही, सा० ५, पृ० ३३।
३. वही, सा० १ पृ० ३२।
४. वही, पद ८४ पृ० ११४-११५।
५. वही, सा० १७, पृ० ३४।

को भी अभिभूत कर उनके भीतर एक प्रकार की अंतिम निर्बलता (Last Infirmity) उत्पन्न कर देता है ।

कबीर साहब ने इस प्रकार के संकटों से बचने के लिए एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति बना लेने का सुझाव दिया है । वे सबसे पहले अपने हृदय में यह भाव उत्पन्न करना चाहते हैं कि जो कुछ भी अपना समझा जाता है वह वस्तुतः अपने इष्ट परमात्म देव का है । वे कहते हैं "मेरे भीतर अपना कुछ भी नहीं है, जो कुछ भी इस प्रकार का दीख पड़ता है वह सब कुछ तेरा है । अतएव तेरी वस्तुओं को ही तुझे अर्पित करने में मेरा कुछ भी नहीं जाता ।"[१] फिर "हे परमगुरो, तनिक विचारो तो सही । मेरा शरीर तो केवल एक यन्त्र के समान है जिसे ठीक ठाक करके जीभ की एक तात लगा दी गई है और उसे तुम जिस प्रकार चाहते हो उस प्रकार बजा दिया करते हो । मैं 'सति' वा 'असति' कुछ भी नहीं जानता । त्रिगुणादि भी तो तुम्हारे ही बनाए हुए चोर हैं जो तुम्हारी ही आज्ञा के अनुसार तुम्हारे नगर में चोरी किया करते हैं । उनके किये अपराध के कारण मुझे क्यों पकड़ते हो ?"[२] आदि । फिर कबीर साहब इस आत्मसमर्पण की मनोवृत्ति को इस प्रकार बना लेते हैं कि उनके सभी कार्य अपने उस राम के ऊपर ही निर्भर हो जाते हैं । वे यहाँ तक कहने लगते हैं "मैं तो राम की एक कुतिया मात्र हूँ जिसके बंधन की रस्सी उन्हीं के हाथ में सदा रहा करती है । वे जिधर खींचते हैं उधर ही जाया करता हूँ ।"[३] "मैं यदि किसी प्रकार नग्न एवं गिरी दशा में भी रहूँ तो मुझ पतिव्रता की लज्जा उस एक मात्र स्वामी की ही लज्जा कही जायगी ।"[४] यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की मनोवृत्ति वाले पर मान जैसे प्रबल शत्रु को भी विजय नहीं मिल सकती । कबीर साहब की इस मनोवृत्ति में वह एकांत निष्ठा भी काम करती दीख पड़ती है जो किसी मनुष्य में जीवट ला देती है और उसके आत्मसमर्पण की उपर्युक्त, प्रत्यक्षतः निर्बलतासूचक मनोवृत्ति उसे एक दूसरे प्रकार से सबल बना देती है । फिर तो वह कह उठता है "रात के जितने तारे हैं उतने भी मेरे वैरी क्यों न हो और मेरा धड़ सूली पर तथा मेरा सिर किसी कगूरे पर क्यों न टंग जाय मैं तुझे भूल नहीं सकता ।"[५] आत्मसमर्पण एवं एकांत निष्ठा का यह सुन्दर संयोग मनुष्य को निश्चित करके उसे पूर्णतः निर्भय और निःसंक भी बना देता है ।

कबीर साहब ने अन्यत्र इस प्रकार की स्थिति को 'ब्रह्म गियान' की भी संज्ञा दी है और बतलाया है कि इसे उपलब्ध कर लेने पर न केवल अपने में आत्मनिर्भरता की ही शक्ति आती है

---

१. 'कबीर ग्रन्थावली' सा० ३ पृ० १९ ।
२. वही, पद २९२, पृ० १८७ ।
३. वही, सा० १४ पृ० २० ।
४. वही, सा० १७ पृ० २० ।
५. वही, सा० २९ पृ० ७० ।

अपितु अपने लिए सभी प्रकार के सांसारिक अनिष्ट भी शुभकर बन जाते हैं। वे कहते हैं 'ब्रह्मज्ञान के होते ही मेरे भीतर शीतलता आ गई और जिस अग्नि की ज्वाला में संसार जला करता है वह मेरे लिए जल के समान हो गई।"[१] "जिस समय प्रेमानन्द के कारण वह द्वार खुल गया और उस दयाल के दर्शन हो गए तो ममतादि के बन्धन आपसे आप टूट गए और जो जो वस्तुएं मेरे लिए शूल सी लगा करती थी वे सभी मेरे सोने के लिए शय्या सी बन गई।"[२] "अब मुझे गोविन्द का अनुभव होते ही सर्वत्र कुशल क्षेम प्रतीत होने लगा। शरीर के भीतर जितनी भी उपाधियाँ हुआ करती थीं वे सभी परिवर्तित होकर सहज समाधि का सुख देने लगीं, यमराज स्वयं राम के रूप में परिणत हो गया, वैरी लोग मित्रवत् जान पडने लगे, दुर्जन सज्जन से दीख पड़े, तीनों प्रकार के ताप दूर हो गए और जीवनमुक्त की स्थिति आ गई जिसमें न तो मुझे किसी प्रकार का भय लगा करता और न मैं किसी को भयभीत ही करता था।"[३] "जब अपने और पराये का वास्तविक रहस्य जान गया तो अब डरने की बात कहा रह गई। अब तो भय वस्तुतः भय में ही प्रवेश कर गया और वह शक्तिहीन बन गया। अपने और पराये की मनोवृत्ति ने मुझसे अनेक जन्म ग्रहण कराकर मुझे दु.ख में डाल रखा था। अब मैं किसी को ऊँचा नीचा समझने के भ्रम मे भी नही पड़ता। मैंने अपनी अहता खो दी और मेरे लिए राम के सिवा और कुछ भी नही रह गया।"[४] यह स्थिति इस प्रकार पूर्ण निर्द्वंद्व की भी स्थिति है।

कबीर साहब ने इस दशा का वर्णन इस प्रकार भी किया है, "आत्मतत्त्व की अनुभूति को प्राप्त कर लेने पर मैं सबके साथ निर्वैर का भाव रखन लगा और काम क्रोधादि से रहित बन गया। अब मेरे सामने न तो किसी 'राणा' एवं 'राव' की भावना थी और न 'वैद्य' एवं 'रोगी' का अंतर ही महत्वपूर्ण रह गया था। मैं अब यह समझने लग गया कि संसार के सभी पदार्थों में आत्मा ओत-प्रोत है और उनकी विभिन्न स्थितियों मे भी वही अपना खेल खेला करता है। उसने नाना प्रकार के 'घड़े' और 'भाडे' बना डाले है, किंतु उन सभी के रूपों मे अपना निजी स्वरूप व्यक्त करता हुआ लीला किया करता है।"[५] कबीर साहब, इसी कारण, सभी पदार्थों मे समान भाव रखने का सुझाव देते है और इसके विपरीत भाव रखनेवाले को समझाया भी करते है। एक स्थान पर वे कहते है, "अरी मालिन, तू किसकी सेवा करने के लिए उद्यत है ? वह जगदेव (परमात्मा) तो सब कहीं जीता जागता और प्रत्यक्ष है। जिस मूर्ति की पूजा करने के लिए तू पत्तियाँ तोड़ती है वह एक निर्जीव

---

१. 'कबीर ग्रन्थावली' सा० ४ पृ० ६३ ।
२. वही, सा० ४८ पृ० १६ ।
३. वही पद, १५ पृ० ९३ ।
४. वही, पद ६६ पृ० १०८-९ ।
५. वही, पद १८६ पृ० १५०-१ ।

वस्तु है, किंतु पत्तियों मे से तो प्रत्येक में जीवन का संचार हो रहा है।....पत्तियाँ ब्रह्मा-स्वरूप हैं, पुष्प विष्णु तुल्य है और फल भी महादेव से कम नहीं है। अतएव, जब तीनों देवता एकत्र होकर इसी में वर्तमान है तो तू सेवा किसकी करने जा रही है ?"[१]

रहस्यानुभूति की यह तीसरी अंतिम स्थिति सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और यही वह दशा है जिसे वे संतों की सिद्धावस्था बतलाते हैं। इस स्थिति की परिपक्व दशा को ही उन्होंने 'सहज समाधि' का भी नाम दिया है। कबीर साहब के लिए 'सहज' का शब्द अत्यंत प्रिय लगा करता है और वे इसके अनेक प्रकार के प्रयोग करते हुए दीख पड़ते है। सहजावस्था का परिचय देते हुए वे एक स्थल पर कहते है 'सहज' 'सहज' तो सभी कहा करते हैं, किंतु उसे कोई पहचान नही पाता। सहज की दशा वस्तुतः वह स्थिति है जिसमे हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ उस परमात्म तत्व को सदा स्पर्श करती हुई (उसकी गहरी अनुभूति मे) रहा करती हैं।"[२] फिर वे अन्यत्र कहते है, "अरे, मुझे अब ब्रह्मज्ञान का अनुभव प्राप्त हो गया और मुझे कोटि कल्पो तक के लिए विश्राम मिल गया। अब से मै सहज समाधि में आनन्दपूर्वक रहा करूँगा और मुझे कुछ भी दु.ख न हो सकेगा। सद्गुरु की कृपा के होते ही मेरे हृदयकमल में विकास आ गया, भ्रम दूर हो गया, दसों दिशाएं सूझ पड़ने लगी और परमज्योति का सर्वत्र प्रकाश हो गया। मृतक मन का नवोत्थान होते ही उसके सामने से सदा अहेर मे निरत रहने वाला काल भाग चला। सूर्योदय हो गया, रात व्यतीत हो गई और मै सचेत हो गया। उस समय मैने उस अव्यक्त, अखंड, एव अनुपम वस्तु का साक्षात्कार कर लिया। मुझसे उसका वर्णन नही किया जा सकता। मेरी वह स्थिति हो गई है जो मिठाई की मधुरता का अनुभव करते समय किसी गूँगे मनुष्य की हो जाती है और वह उसे प्रकट न कर सकने पर मन ही मन प्रसन्न होता हुआ केवल इंगित करके रह जाता है।..मेरा शरीर काँच का होता हुआ भी कंचन का बन गया और बिना कहे सुने ही मन मे पूरी शांति आ गई। मेरा निजी पता हो अब उतना अज्ञेय प्रतीत होने लगा जितना आकाश में उड़नेवाले पक्षी के मार्ग की दशा हो जाया करती है और मुझ आत्मजल का उस परमात्मसागर में पूर्ण रूप से प्रवेश हो गया। अब देवों की पूजा हो चुकी और तीर्थ स्नान भी हो चुका; अब इनसे मुझे कोई काम नही। अब मेरी भ्राति का अज्ञान सदा के लिए दूर हो गया और मैं अमर हो गया।"[३] रहस्यवादी कवि की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति का यही संक्षिप्त परिचय है।

कबीर साहब ने अपनी रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए सूफी रहस्यवादियोंकी भांति किसी प्रेमगाथा का सहारा नही लिया है और न, अद्वैतवादी दार्शनिकों की, भाँति, जीवनमुक्त

---

१. 'कबीर ग्रन्थावली' पद १९८ पृ० १५५।

२. वही, सा० २ पृ० ४२।

३. वही, पद ६, पृ० ८९-९०।

की सिद्धावस्था का कोई सविवरण परिचय ही दिया है। इनकी ऐसी अनुभूतियों के चित्रण ईसाई मिस्टिकों के संस्मरणों अथवा आत्मोद्गारों जैसे रूपों में लेखबद्ध होकर सुरक्षित भी नहीं हैं और न उनके कवियों की संगृहीत रचनाओं जैसा इनकी बानियों का अभी तक कोई वर्गीकरण ही हो पाया है। इनकी विविध रचनाएं अनेक संग्रहों में इतस्ततः बिखरी हुई पाई जाती हैं जिनमें कोई सामंजस्य न बिठा सकने के कारण बहुधा भूल हो जाया करती है। इन्होंने अपने भावों के व्यक्तीकरण के लिए एक से अधिक प्रतीकों को चुना है और कभी कभी उनके प्रयोगों में फेर फार भी करते गए हैं। इनकी उलटवासियों के कारणही हमें अनेक प्रकार की उलझनों का सामना करना पड़ जाता है। फिर भी इनके कथन पूर्णतः स्पष्ट एवं सुसंगत हैं और वे किसी उस विमल विचार-धारा से संबंध रखते हैं जिसका मूल स्रोत इनकी निजी गहरी अनुभूति में अंतर्हित है। ये अपनी बातें प्रायः उसी स्थिति में रहकर किया करते हैं और विषय की रहस्यमयता, इनके द्वारा प्राप्त किये गए उसके परिचय की गभीरता और तज्जनित आनन्द की अधिक मात्रा उसे एक ही बार एव एक ही प्रकार से व्यक्त कर देने में इन्हे सदा असमर्थ बना देती है। रहस्यवाद-प्रभावित काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता वस्तुतः उस कथनशैली मे ही पायी जाती है जो कबीर साहब की अस्फुट बानियों में लक्षित होती है और जिसके कारण हम इनकी उक्तियों का वास्तविक मर्म समझने मे बहुधा असफल हो जाया करते है।

श्री भगवत शरण उपाध्याय

अमेरिका में लेखक

[श्री उपाध्याय यूरोप एवं अमेरिका की लम्बी यात्रा के बाद कुछ ही दिनों पूर्व भारत लौटे हं। अपनी यात्रा में उन्होंने इन महादेशों के प्रख्यात मनीषियों, कलाकारों एवं साहित्यकारों से भेंट की तथा व्याख्यान दिये। वे विश्व में एक व्यापक सांस्कृतिक भ्रातृत्व की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हं।—संपा०]

'अमेरिका मे लेखक' जैसी बात सुनकर कुछ लोग अगर चौक उठे तो अजब नही। विज्ञान का आश्चर्यजनक उपयोग कर अमेरिका ने जो अपनी भौगोलिक सीमाओं मे एक जादू का देश बसा लिया है, लगता है कि वहाँ सिवा वैज्ञानिक जादूगरी के और कुछ नही।

अगर कोई कहे कि मनुष्य अमेरिका के वायु मण्डल मे मछली की तरह तैरता है, पानी की सतह पर डग मारता है, आसमान का तारा जमीन पर उतार लाता है तब शायद कोई आश्चर्य न करे पर 'अमेरिका में लेखक' भी है इस पर अनेक लोग आँखें फाड़ने लगेंगे।

सही भी है कि एक जमाने तक, प्रायः डेढ़ सौ साल, अमेरिका में साहित्य की बेल नही लगी। वहाँ जाकर बसनेवाले अंग्रेज और अन्य यूरोपीय पहले एक लबे अर्से तक जीवन के साधन उत्पन्न करते रहे। ऐसा नही कि साहित्य की कोपले तब फूटी ही नही परन्तु निश्चय तब जीव्य साधनों का अभाव जीवन का ही अभाव सिद्ध होता और अमेरिकन जीवन और साहित्य के इस भयानक अन्तर से अनभिज्ञ न था। उसने इसीलिए तब भूमि का कर्षण किया, साहित्य का नही।

साहित्य तब समुद्र पार के उसके बन्धु प्रस्तुत करते थे और जैसे जीवन की अनेक अन्य आवश्यकताएं वह अपने पूर्वजों के दूर के स्वदेश से व्यापारतः पाता था अपना साहित्य भी वह उसी प्रकार इंगलैण्ड आदि देशो से प्राप्त करता था। डिकेन्स, थैकरे आदि उपन्यासकार तब इंगलैण्ड से अमेरिका जाकर अपने उपन्यास वहाँ के नव निवासियों को सुनाते थे और स्वदेश में साहित्य द्वारा अर्जित आवश्यकताओं की कमी अमेरिका के प्रभूत दान द्वारा पूरी करते थे। तब कापी-राइट का अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी सर्वत्र लागू न था और कारलाइल, डिकेन्स आदि की कृतियो की लाखों प्रतियाँ बगैर मूल लेखक प्रकाशक की अनुमति के अमेरिका में छपकर बिक जाती थी जब इंग्लैण्ड में डिकेन्स आदि अनेक बार इतना भी न कमा पाते कि लेस खरीद कर जूते बाँध लेते।

साहित्य के सर्जन में एक बात जो विशेष सहायक होती है वह है परम्परा। संभवतः और किसी क्षेत्र में परम्परा की आवश्यकता इतनी नहीं होती जितनी साहित्य के क्षेत्र में। अमेरिका में साहित्य के अभाव में उसकी परम्परा क्यों कर बन पाती, और दूर के मूल देश की परम्परा स्वाभाविक ही कृत्रिम तथा अधार्य लगती।

यही तो कारण है कि जब कभी अमेरिकन अपने विज्ञान के गर्व मे यूरोप को देहात कहकर हँसता है तब यूरोपियन भी अपनी थाती की याद कर उस पर हँसता है, उसे हेय समझता है। वह पूछता है, माना तुम्हारे पास विज्ञान के अजेय अस्त्र हैं पर तुम्हारा न्यूटन कहाँ है, लीस्टर कहाँ है, मोलियें, शेक्सपियर कहाँ है, आइन्सटाइन कहाँ है ?

सही अमेरिका में साहित्य की परम्परा नहीं है इसीसे उसके सर्जक कलाकारों का उदय भी प्रायः सम सामयिक है। ह्विटमैन आदि की परम्परा भी हाल की ही, प्रायः सौ वर्ष के भीतर की ही है। जिस प्रकार अमेरिकनों ने कला के क्षेत्र की बहुमूल्य यूरोपीय कृतियाँ खरीदकर स्वदेश मे चित्रण आदि का आरम्भ देर तक रोक रखा, साहित्य की दिशा में भी उन्होंने गति न होने दी।

फिर भी आज के अमेरिका मे लेखक हैं. . .और काफी जाने हुए लेखक है. . .जान हावर्ड-लासन, अल्बर्ट माल्ज, सैमुएल ओर्निस्स, डाल्टन टुम्बो, रिग लार्डनर, अल्वाबेस्सी, हावर्ड फास्ट। इनके अतिरिक्त राबर्ड फास्ट, कार्ल सैन्डबर्ग, वालरेन स्टीवेंस, विलियम्स कारलस, विलियम्स एज्रापाण्ड, टी० एस० एलियट, हारेस ग्रेतारी, रूथ और जल स्टेफान, मारिएन मूर, राबिन्सन जेफर्स, मैक्लीश, कमिंग्स, बोगन, केन्नेथ फियरिंग, एबरहार्ट, शापिरो आदि अनेक ऐसे हैं जो आज भी साहित्यिक जगत् को अपने दान से मुखरित कर रहे हैं। डारोथी नारमन, लुई फिशर, गुन्थर आदि पत्रकारिता की सीमाओं से निकल कर साहित्य-गगन पर छा चुके है। अपटेन सिन्क्लेयर आज भी अपने उपन्यासों की परम्परा मनुष्य की क्रियाशीलता से अनुप्राणित करता जा रहा है। अमेरिका में इस समय अनेक ऐसे लेखक भी है जो जन्म से विदेशी हैं पर जिन्होंने अब उस देश को ही स्वदेश मान लिया है। इनमें आल्डस हक्स्ले और शोल मे ऐश विशेष प्रसिद्ध है।

इस लंबी तालिका से जो उस महा देश के लिए वस्तुतः बड़ी नहीं, सिद्ध हो जाएगा कि अमेरिका साहित्य के क्षेत्र में, जैसा प्रायः समाया जाता है, नगण्य नहीं है। हाँ, किस प्रकार इन लेखकों और कवियों का जीवन चलता है यह दूसरी बात है। अन्य देशों की ही भाँति अमेरिका में भी साहित्य का क्षेत्र दुर्गण है। जिन लोगों ने युक्ति, सूझ और सूचि वृत्ति से अपने लिए दुर्ग बना लिया है वे उसके प्राचीरों के पीछे सुरक्षित है, दूसरे आकाश वृत्ति पर अपने आहार के लिए निर्भर रहते हैं।

अमेरिका में दोनों प्रकार के साहित्यिक है. . . .वे जो साहित्य द्वारा अत्यंत धनी हो गए हैं और दूसरे वे जो साहित्यचर्या से नितान्त कंगाल भी हो गये है—वे भी जो हजारों रुपये प्रतिवर्ष

केवल अपनी साहित्यिक आय पर इन्कम टैक्स देते हैं, वे दूसरे भी जो स्थानाभाव से पाताल गाडियों के स्टेशनों में रात काट लेते हैं। जो पत्रों के कालम्निस्ट--नियत लेखक--हैं,उनकी स्थिति साधारणतः अच्छी है, अक्सर बहुत अच्छी--लुई फिशर, डोरोथी नारमन, आदि कालम्निस्ट ही है। उपन्यास-कारों की आय भी अनेक बार असाधारण हो जाती है। पर्लबक की अपने उपन्यासो से आय चाहे जार्ज बर्नार्ड शा के बराबर न हो परन्तु साधारणतः असाधारण ही है। इस सबंध में यह न भूलना चाहिए कि शा की आय का एक बडा जरिया रगमंच था, केवल नाटकों का प्रकाशन ही नहीं।

साधारणतः तो वहाँ कोई समृद्ध लेखक अपनी आय बताता भी नही। क्यों बताए? बताए, और इन्कमटैक्स का शिकार हो। जैसे दूसरे देशो में व्यवसायी अनेक बार इन्कमटैक्स से बचने के लिए दो दो बही खाते रखते है, अमेरिका के अनेक समृद्ध लेखकों को भी उस दिशा में अपनी रक्षा के लिए कुछ उपाय करने पड़ते है। इससे सही सही उनकी समृद्धि का अन्दाज लगाना कठिन है यद्यपि उनका रहन सहन देखनेवाले को कम से कम इस धोखे में नही रख पाता कि उनकी स्थिति शकायुक्त है।

कवियों की स्थिति अमेरिका मे कुछ अच्छी नही--अच्छे से अच्छे कवि की स्थिति भी बहुत अच्छी नही कही जा सकती। बात यह है कि कविता से शौक रखने वालों की कमी तो नही है पर कवि की कृतियाँ उपन्यास की भाँति गणनातीत नही हो सकती, फिर उनके पाठकों की संख्या भी उपन्यास पढ़ने वालों के बराबर नही पहुँच सकती। वैसे वह नाटककार जिसकी कृति रंगमंच पर अपना रंग जमा लेती है सहज ही लखपती हो जाता है। फिल्मो की कहानियाँ लिखने-वालो की स्थिति भी असामान्य रूप से अच्छी है। सिनेरियो, डायलाग आदि तैयार करनेवाले कवियो से कही अच्छे है। अपने देश में जब कवियो ने अपने अभावो से भरे जीवन से ऊब कर सिनेमा क्षेत्र मे पदार्पण किया तब हम सभी ने नाकभौं सिकोड़ी थी, पर वस्तुत. यह स्थिति केवल हमारे ही देश की नही और देशों की भी है। अमेरिका मे भी अनेक कवि उस दिशा मे पदार्पण कर चुके है। अनेक ने कवि का जीवन कठिन पाकर स्कूलों कालेजो आदि में साहित्याध्यापन आरम्भ कर दिया है, या अन्य व्यवसाय करने लगे है।

अपने देश के एक जाने हुए कलाकार और कवि को मैंने एक बार फाटका खेलते देखकर फटकारा था, अमेरिका मे मैंने एक जाने हुए कवि को एक समृद्ध बीमा कंपनी के उपप्रधान पदपर विराजमान पाया। यद्यपि वे कविता आज भी कर लेते है, करते है, साहित्य के क्षेत्र में उनका नाम भी काफी है पर जो उत्तर उन्होंने मेरे एक अमेरिकन कवि मित्र को दिया वह मन.स्थिति पर काफी प्रकाश डालता है। मेरे मित्र कवि ने उनसे मिलने के लिए एक बार पत्र लिखा। उन्होंने मिलने से इन्कार कर दिया। अनेक पत्रो के उत्तर मे वे इस कवि से मिले पर मिलते ही कहा कि देखिए, यदि बीमा संबंधी कोई चर्चा हो तो करें वरना काव्य के अन्तराल मे डूबने उतराने के लिए मेरे पास न तो समय है न इच्छा। इटरव्यू समाप्त हो गई।

ऐसे निबन्धलेखक भी कुछ कम सुखी नही जिन्होंने संसार में खासी ख्याति कमा ली है। आल्डस हक्स्ले की चिन्तनशील निवन्ध पुस्तकों से उनको खासी आय है। जिन लेखकों की पुस्तकें, विशेषकर निचली कक्षाओं में लग गई है, वे भी सुखी है, यद्यपि इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए जिन हथकंडों को काम मे लाया जाता है वे अपने देश मे भी अनजाने नही। अन्य लेखको को किस प्रकार पाठ्य पुस्तकों की परिधि से दूर रखा जाता है वह अपराध शास्त्र का एक पेचीदा प्रकरण है।

यही प्रकरण पत्रकारिता के सम्बन्ध में भी सार्थक है। निश्चय जो समर्थ लेखक है, और जर्नलिस्ट के अधिकार से लिख सकता है- उसके लिये पत्रों का अमेरिका में अभाव नही है। पर यह भी निःसन्दिग्ध सत्य है कि पत्रों में स्थान पाने तक जीवन का एक लबा रसमय काल देखते ही देखते निकल जाता है। केवल मेधा से पत्र-कालमों में स्थान पाना कठिन है। पहले तो लेख का रूप सनसनीदार हो, दूसरे उसका शीर्षक सनसनीदार हो, तीसरे उसका अन्तरंग भी और इन सब से आवश्यक यह कि अनुकूल दृष्टिकोण के साथ उस परिधि मे लेखक की पहुँच हो जो पत्र को सम्हालता है।

आज की स्थिति मे अमेरिका के धन और जादू के देश मे भी साधारण लेखक की स्थिति अच्छी नही कही जा सकती। केवल जो वह उचित मानता समझता है उसे लिख कर जी सकना लेखक के लिये सम्भव नही। अनेक लेखकों को मैने वहाँ ईमानदारी का जीवन बिताते और कंगालपन के शिकंजे में घुटते देखा। अनेक इसी कारण समाज से अलग तक रहने लगे है, लोगो से मिलना जुलना तक छोड़ दिया है। समाज में रसाई व्यवहार द्वारा होती है, अमेरिका में सामाजिक व्यवहार का आधार अधिकतर खान पान है, खानपान में खर्च लगता है और खर्च के लिये इसवर्ग के लेखको के पास क्या धरा है ?

मुझे स्वय ऐसे लेखकों से मिल सकने मे बडी कठिनाई हुई। उन्होने भरसक मुझसे, विदेशी होने से विशेषत', मिलना नही चाहा और समान मित्र के स्नेह दबाव से ही उन्होंने मुझसे मिलना स्वीकार किया। देखा . . . छोटे-छोटे दो कमरे है, एक मे दो स्कूल जाने वाले लड़के है, दूसरे का बैठक, लाईब्रेरी, बेडरूम तीनों रूप मे इस्तेमाल होता है।

आज की दुनियाँ मे आत्मविश्वास और ईमानदारी की बात कहना और लिखना लेखक के लिये प्रायः सर्वत्र कठिन हो रहा है। अमेरिका में भी कठिन है। अनेक ईमानदार लेखकों को मैंने वहाँ जेल के कठघरों के पीछे भी पाया। गरज कि लेखक की परिधि निरन्तर कम होती जा रही है। हाँ भारत के मुकाबले अमेरिका मे साहित्य क्षेत्र का विस्तार बडा है, उसकी विविधता बहुमुखी है। प्रकाशित होने वाले पत्र-पत्रिकाओं की सख्या वहाँ अनन्त है और केवल जी लेने के साधन वहाँ अनेक हैं।

यह सन्देह की बात हो सकती है कि लेखक उत्तम साहित्य की कितनी मात्रा का सर्जन करता है पर वह लेखनी का प्रयोग कर, यदि ईमान की प्रवृत्तियों को क्षण भर दबा दे, जीवित रह सकता है। साधारण लेखन, जिसे सर्वथा साहित्य तो नहीं कहा जा सकता पर जिसे साहित्य

कम से कम अमेरिका में अनेक लोग मानते और कहते हैं,जैसे विज्ञापन आदि का वृत्त, अपरिमाण बढ़ा है, उसी मात्रा में जिस मात्रा में अमेरिका का व्यापार बढ़ा है। उस क्षेत्र में हजारों लेखकों और कलाकारों का भरण हो रहा है। विज्ञापन का विस्तार रूप पाउडर से लेकर फिल्मों की दुनियाँ तक है, गिरजो के व्याख्यानों से लेकर आपानकों की पेय सुविधाओं तक।

रेडियो और टेलीविजन से भी अनेक लेखकों को आहार मिलने लगा है, यह दूसरी बात है कि साबुन, सिगरेट, पेय आदि के विज्ञापनों के बीच सहसा लेखक किस प्रकार कोरिया के युद्ध को सराहने लगता है, किस प्रकार वह सहसा एलियट की काव्यधारा की व्याख्या करने लगता है। पर करता वह निश्चय है, आखिर विज्ञापन की दुनियाँ मे भी तो कलम चलती है और शायद साहित्य के कंगाल क्षेत्र से अधिक, क्योंकि विज्ञापनों की नींव पर ही तो अमेरिका का सर्वस्व टिका है।

अमेरिका के लेखक भी आज स्पष्टतः दो दलों में विभक्त हो चुके है और आप जब उनसे मिलने जाते हे तब पहले तै कर लेते है कि आप उन के अनुकूल हैं या प्रतिकूल। बीच की स्थिति भयावह है। बीच की स्थिति रखने वाले अनेक अमेरिकन लेखक आज पस्त है—आधारहीन, उत्साहहीन।

रोजी कमा लेना ही सब कुछ नही है। लेखक के क्षेत्र में प्रतिभा और साहस दोनों का एक साथ रहना आज कठिन हो गया है। पहले केवल प्रतिभा की आवश्यकता होती थी जिसे लेखक शब्दों का कलेवर देता था आज प्रतिभा को कलेवर देने के लिये साहस की भी आवश्यकता है जो वैयक्तिक चेतना ही तक सीमित नहीं, न यहाँ न वहाँ।

(आकाशवाणी, इलाहाबाद के सौजन्य से)

डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, एम. ए., एल-एल.बी., पीएच. डी.

सन्तों की प्रेम-साधना

मानव ने परम ज्योति परब्रह्म के दर्शन नही किए परन्तु उसके गुणगान की परम्परा प्राचीन---बड़ी ही प्राचीन है। सभ्यता एवं शिक्षा के प्रकाश-प्रसार के पूर्व, समाज की स्थापना से भी पूर्व के आदिम मानव को इस विश्व के संचालन मे, एक ही पेड़ में विविध प्रकार के फूलो के फूलने में और विविध पेडो मे एक ही रग के पुष्पों के विकसित होने में, विद्युत प्रकाश, मेघो की गड़गडाहट में, चन्द्र, सूर्य के नियमित समय पर उदय और अस्त मे, ऋतुओं के क्रमिक परिवर्तन में किसी दिव्य शक्ति का आभास मिला था। रीझ कर या खीझ कर, भय अथवा प्रेम के कारण, त्रस्त हो या अनुरक्त हो कर मानव उस आदि कर्ता के गुणों का गान करने लगा। तब से आज तक उस ब्रह्म की शक्तिमत्ता के गुणगान की परम्परा चली आ रही है। ससार के सभी देशों के सभी धर्मों ने उसकी महत्ता के समक्ष मस्तक झुकाया, सभी वर्गों, सभी सम्प्रदायों ने श्लोको की रचना की, सभी कालो में स्तवन रचनाएं हुई फिर भी मानव उसकी रूप रेखा न स्थापित कर सका। असफल मानव भला कब पराजय स्वीकार करने वाला था। अपनी बौद्धिक हीनता, और असमर्थता को छिपाने के लिए उसने सब कुछ वर्णन करने के पश्चात् भी 'नेति नेति' कह दिया। ठीक भी है, जिसकी अनुभूति नही है, जिसकी रूप रेखा नही है, जो अनादि है, अनन्त है, अभेद्य है, अनाम है, अमध्य है, अन्तर्यामी है, सूर्य चन्द्र जिसके नेत्र है, त्रिलोक ही जिसका शरीर है, उसका वर्णन कैसे किया जाय? शून्य (Non-existent) तत्व का चित्र कैसे खीचा जाय? अनुभूति से परे वस्तु का वर्णन भी हो हो तो कैसे? परन्तु मानव की सफलता और असफलता का रहस्य अनुभूति ही नही है। मानव को प्रेम का अनुभव है। प्रेम का यह तत्व सृष्टि के प्रथम मानव में भी था और आज भी है। इतना ही नही कि सभी सजीवो मे एक दूसरे के प्रति प्रेम का भाव है वरन् सजीवों ने निर्जीवो से भी प्रेम किया है और करता रहेगा। प्रेम के सभी प्रकारों का अनुभव मानव को होता ही है। माता पुत्र का प्रेम, भाई भाई का प्रेम, भगिनी भ्राता का प्रेम, पिता पुत्र का प्रेम, पति पत्नी का प्रेम, मित्र मित्र का प्रेम, पड़ोसी पडोसी का प्रेम, प्रेमी और प्रेयसि का प्रेम, साधक का ईश्वर के प्रति प्रेम और भी न जाने प्रेम के कितने प्रकारों और भेदों का अनुभव प्रत्येक मानव को होता है। प्रेम ही संसार की स्थिति का कारण है। प्रेम की बाती बुझी नही कि मानव को फिर ससार से क्या सम्बन्ध? इतना महत्वपूर्ण स्थान प्रेम का है। यदि ब्रह्म की कल्पना और सर्वव्यापकत्व मान लेने में कोई आपत्ति न हो, तो मेरी समझ में उसके पश्चात् प्रेम ही वह तत्व है जो सर्वदा, सर्वत्र रहा है, और रहेगा। जिस प्रकार ब्रह्म बहु वर्णित विषय रहा है,

ठीक उसी प्रकार प्रेम है। काव्य, महाकाव्य, उपन्यास, कहानी, साहित्य के सभी अंगों में प्रेम की अभिव्यक्ति हुई। सभी ने स्वमत्यानुसार प्रेम की परिभाषाएं प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, पर क्या उनमें से एक भी, कभी भी पूर्ण कही जा सकती है ? हिन्दी के सन्त कवियो में एक भी ऐसा नही है जिसने प्रेम की परिभाषा निर्धारित करने का प्रयत्न न किया हो, या जिसने अपनी मति के अनुसार प्रेम के विषय में अपने विचार न व्यक्त किए हों। कबीर, संत काव्य के सिरमौर हैं। प्रेम की उन्होंने बड़ी विस्तृत व्याख्या की है, फिर भी अन्त में उन्हें अपने ही सामर्थ्य पर सन्देह हुआ। अन्त में उन्हें हार कर कहना ही पड़ा, "प्रेम प्रेम सब कोई कहे प्रेम न जाने कोय।" "जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ" का ललकार कर दावा करनेवाला कबीर जब थक कर बैठ गया तो प्रेम की परिभाषा कौन प्रस्तुत करेगा ?

साहित्य के क्षेत्र में बंगाल के बाउल, हिन्दी के सन्त कवि, तथा सूफियों का प्रेमादर्श बडे ही उच्च कोटि का माना गया है। इनके प्रेम में अनुभूति की गहराई और विस्तार है, इनकी भावनाओं मे तीव्रता है। इनका प्रेम आध्यात्मिक प्रेम है यद्यपि प्रयुक्त प्रतीक और अभिव्यंजना-शैली लौकिक प्रम की सूचना देती है।

साधको मे एक विशेष प्रकार की एकरूपता उपलब्ध होती है। उत्तर भारत, दक्षिण भारत, महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब अथवा अन्य किसी प्रदेश को लीजिए, किसी वर्ग, किसी भी सम्प्रदाय को देखिए, चाहे वे बाउल हों, सूफी हों, सगुणोपासक हों या निर्गुणिया हों, सभी में एक विशेष प्रकार की एकरूपता है और वह एकरूपता है प्रेम की। सभी सन्तो और साधकों के हृदय में प्रेम लहरें भरता हुआ दीख पड़ता है। यह अवश्य है कि किसी में उसका प्रवेश अपेक्षाकृत कम है किसी मे अधिक। इस कमी और आधिक्य का उत्तर तो कोई मनोवैज्ञानिक ही देगा पर इतना तो निश्चय है कि इस भावना से शून्य शायद किसी भी साधक का हृदय नही है।

प्रेम हृदय-जगत का व्यापार है। मस्तिष्क से उसका कोई भी सम्बन्ध नही है। प्रेम हृदय से होता है, मस्तिष्क से नही। प्रेम तो मन माने की बात है। सुन्दर से सुन्दर वस्तु से घृणा और अपेक्षाकृत उससे कम सुन्दर वा असुन्दर से प्रेम, इस कथन का पोषक है। हृदय-जगत के इस व्यापार मे कोई दबाव, जोर, जुल्म और मजबूरी नही है। प्रेम हृदय से होता है इसलिए किसी को प्रेम करने के लिए विवश नही किया जा सकता। प्रेम तो स्वतः हृदय से निर्बाध फौव्वारे के समान निकलता है।

प्रेम का लक्ष्य होता है प्रेम और केवल प्रेम, न दुख न सुख, न हर्ष, न उल्लास, न प्राप्ति न ऐंद्रिकता। प्रेम में प्रेमान्तिकता होती है। इसलिए प्रसिद्ध बाउल कवि मदन ने कहा था "अरे बन्दे! प्रेम का मूल्य तो प्रेम मात्र है, न सुख है और न दुख। ऐ बन्दे! यदि तू वास्तव में ही, प्रेम का प्रेमी है तब तो फिर प्रेम ही तेरी प्यास है, और प्रेम ही तेरी क्षुधा है।[1] सिंध

---

१. **प्रेमेर मोल प्रेमेर बान्दा, नारे सुख नारे दुख।**
प्रेमेर रसिक यदि रे बान्दा, प्रेम पियास प्रेम भूख ॥

के सुप्रसिद्ध सूफी कवि शाह लतीफ ने भी इसी भाव का समर्थन किया था। उनके शब्दों में, अगर मैं पाप करता हूँ तो सभी मेरे प्रति रुष्ट है और यदि मैं पुण्य के लिए लोभातुर हूँ तो मेरे प्रियतम मुझसे रुष्ट हैं। वास्तव में प्रेम का लक्ष्य पुण्य एवं पाप से शून्य है।[1] शाहलतीफ के हृदय में पाप पुण्य के लिए जो संकल्प विकल्प है, जो शका है, वह कबीर जैसे दृढ़ मनुष्य के हृदय में ठहर भी नहीं पाई। वे मुक्ति पाने के हेतु, पुण्यार्जन के हेतु या भव नरक से उद्धार के लिए भी अथवा स्वर्ग कामना के हेतु भी प्रेम नही करते। उनका प्रेम प्रेम के लिए है। कबीर महा प्राणवान् व्यक्ति थे। "जेहि डरते भव लोक डरत है सो डर हमरे नाहि"[2] कह कर उन्होंने सन्देह के लिए कोई स्थान नही छोड़ा है। जिस बात को शाह लतीफ ने बहुत शान्त रूप में और कबीर ने स्पष्टवादिता का आधार बना कर चुनौती के रूप मे ललकार कर कहा है उसी भाव को मलूकदास ने कुछ खीझ कर कहा "अरे सन्तो! तुमने तो प्रेम को लक्ष्य प्राप्ति का साधन बना लिया। तुम्हारा प्रेम सच्चा प्रेम नही है। कारण कि सच्चा प्रेम तो कामनारहित होता है और तुम्हारा प्रेम तो ब्रह्म को मोल लेने का साधन बन गया है। हरि तो सद्‌गुरु द्वारा प्रदर्शित सहज साधना से ही प्राप्त हो जाता है, उसके लिए प्रेम को क्यो कलंकित करते हो।"[3] दादू इन सभी विचारको से एकमत हो कर यहाँ तक कहते है कि "मुझे तो प्रेम की कामना है अन्य वस्तु की नही। प्रेम ही के लिए मैं तो अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने के लिए प्रस्तुत हूँ।"[4] प्रेम को ही लक्ष्य बना कर प्रेम करने वाले सन्तो की सूची बहुत बड़ी है। मीरा, सहजो, दयाबाई, दादू आदि मे यह भावना अधिक मुखर प्रतीत होती है।

प्रेम जगत मे उच्च नीच, धनी निर्धन, महान् क्षुद्र, तथा समृद्ध हीन का भाव नही है। इसीलिए प्रेम में स्वाधीनता एव उत्सर्ग आवश्यक माना गया है। निश्चय ही भेद रख कर प्रेम नही स्थापित हो सकता है। भेद रख कर स्थापित लगाव और चाहे जो कुछ भी कहा जाय पर प्रेम की संज्ञा नहीं पा सकता है। भगवान ने स्वतः कहा है कि जो साधक मुझे ईश्वर

---

१. अवगुन रुस्से समका, पीरी गुनौ रूठा में।

२. अनजाने को सरग नरक है हरिजाने को नाहि।
जेहि डरते भव लोग डरत है सो डर हमरे नाहि॥
पाप पुन्य संका नाही सरग नरक नहि जाइ।
कहे कबीर सुनौ हो सन्तों जहाँ का तहाँ समाइ॥

३. सन्तो प्रेम सो मोल न कीजै।
सहज प्रीति सों हरि वरसत है, सतगुरु के परसाद॥

४. सन्तवानी संग्रह भाग १ पृ० ८३।४

मानता है और अपने को हीन, उसके प्रेम के वश में मैं नही होता हूँ।[१] वास्तव में भगवान् तो उसी के अधीन है, जो उन्हें हीन समझ कर उनसे प्रेमभाव में रत होता है।[२] 'भक्तिसूत्र' के रचयिता नारद मुनि ने तीन प्रकार की भक्ति का उल्लेख किया है, जिसमें कान्ताभाव से प्रेम भी एक है।[३] प्रेम ही मेरा सर्वस्व है, सब साधना, सब कर्म है, लक्ष्य है, वही धर्म है, वही अमूल्य सम्पत्ति है, वही महान् है, वही ब्रह्म है, इस भाव से युक्त हो पतिपरायणा, पतिगतप्राणा हो कर निष्काम भावना से ब्रह्म की सेवा में निरन्तर सलग्न रहना ही कांताभक्ति का उच्चादर्श है। कांताभाव की आत्मा है 'एकात्मकता'। सन्त कवि ब्रह्म की अनादि अनन्त शक्ति, विराट् रूप को देख कर उसकी ओर आर्कषित हुए, प्रभावित हुए परन्तु फिर भी उनका प्रेम कान्ताभाव से ओतप्रोत है। कबीर ने तो बारम्बार अपने को "राम की बहुरिया" ही उद्घोषित किया है[४] और उस दिव्य संयोग की कामना की है जहाँ ममत्व एवं परत्व की भावना विलीन हो जाती है और साधक की आत्मा अनुभव करने लगती है कि 'मैं ही तू है और तू ही मैं हूँ।' कबीर की भ ति ही अन्य सन्त कवियों में भी कांताभाव की भक्ति उपलब्ध होती है। सभी ने परब्रह्म के अपने पति होने की कल्पना की है। उदाहरणार्थ यारी[५], जगजीवन,[६] धरनीदास[७], दरिया साहब[८] मारवाड़ वाले तथा मलूकदास[९] की रचनाएं पठनीय हैं।

धर्मशास्त्र में भगवत् प्राप्ति के तीन साधन प्रतिपादित हुए हैं। वे साधन हैं कर्म, ज्ञान एव योग। परन्तु नारद मुनि के अनुसार प्रेम भक्ति उपर्युक्त तीनों साधनो से श्रेष्ठ है।[१०] ब्रह्म से प्रेमभक्ति करने का सभी को अधिकार है। इसके लिए वर्ण, वर्ग, आश्रम आदि भेद विभेद

---

१. आमारे ईश्वर माने आपनोरे हीन।
तार प्रेमे वश आमि ना हई अधीन॥
(चै० च० आद्य लीला १९०, सन्त अ० ११४ पृ०)

२. आपन के बड़ माने आमारे समहीन।
सेइ भाव हइ आमि ताहार अधीन। (पृ० ११५)

३. त्रिरूपभंगपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम् प्रेमैव कार्यम्॥६६।

४. बाल्हा आवे हमारे गेहरे तुम बिन दुखिया देह रे।
सबको कहै तुम्हारी नारी मोको इहै अदेहरे॥

५. संतबानी संग्रह भाग २, पृ० १४६।१

६. संतबानी संग्रह भाग २, पृ० १३४।१

७. संतबानी संग्रह भाग २, पृ० १२७।१

८. संतबानी संग्रह भाग २, पृ० १५४।२

९. मलूकदास की बानी देखिए 'प्रेम को अंग'

१०. सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा॥२५॥

मान्य एवं आवश्यक नही है। श्रीमद्भागवत[1], श्रीमद्भगवद्गीता[2] और रामचरत मानस[3] जैसे महान ग्रंथों में भी इसी बात को भिन्न-भिन्न शैली में भले ही कहा गया है पर तीनों की विचारधारा में मतैक्य है, कि प्रेम, जप, तप, दान, त्याग, योग, व्रत, मख, नियम, स्वाध्याय, ज्ञान, वेद, यज्ञ से अधिक सरल और महान है। हिन्दी के 'सन्त कवियों' का साहित्य इस बात का पोषक है कि उन्होंने भी ज्ञान कर्मादि से प्रेम को उच्च और श्रेष्ठ माना है। रहस्यवादियों एवं सूफियों की साधना की आत्मा प्रेम ही है। प्रेम का सम्बन्ध ज्ञान से नहीं है। वह मस्तिष्क की वस्तु नहीं अपितु हृदय की वस्तु है। प्रेम का स्थान ज्ञान से बहुत ऊँचा है। इसी कारण एक साधारण मानव उत्कृष्ट प्रेम कर सकता है और विद्वान उससे अनभिज्ञ रह सकता है। दूलनदास ने स्पष्ट शब्दों में यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत तथा धर्म से प्रेम को श्रेष्ठ माना है।[4] दादू ने भी वेद पुराण की निन्दा कर के प्रेम की महत्ता का गान किया है।[5] चरनदास जी के शब्दों में "प्रेम बराबर जोग ना, प्रेम बराबर ज्ञान।" कारण कि "प्रेम भक्ति बिन साधिबो सब ही थोथा ध्यान।[6] अन्य सन्तों की बानियों मे भी इसी प्रकार की सजातीय विचारधारा देखने को मिलती है।

---

१. न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्। (११।१४।२०-२१)

२. नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥(११।५३-५४)

३. जो असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी।
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई।
ते सठ महा सिन्धु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी।
उमा जोग जप ज्ञान तप नाना व्रत मख नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तस जस निस्केवल प्रेम॥

४. जग्य दान तप तीर्थ व्रत धर्म जे दूलनदास।
भक्ति आसरित तप सबै भक्ति न केहु की आस॥

५. दादू पाती प्रेम की बिरला बांचै कोइ।
वेद पुरान पुस्तक पढ़ें प्रेम बिना क्या होइ॥

६. सन्त बानी संग्रह प्रथम भाग पृ० १४४

प्रेम की साधना में बलिदान की विशेष आवश्यकता है। त्याग और बलिदान ही प्रेम का उद्दीपक है। जिस साधक में बलिदान की भावना नही है वह प्रेम के क्षेत्र में अग्रसर ही नहीं हो सकता है। कबीर ने प्रेम के क्षेत्र में अवतरित होने वाले को बारबार "सीस उतारे भुई धरे"[1] तथा "सीस देइ ले जाय"[2] आदि चेतावनी दे कर प्रेम मार्ग की दुर्गमता बतलाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इस विकट पंथ पर अग्रसर होने के लिए आकांक्षी साधक को सकटों की ओर संकेत कर देने का प्रयत्न किया है। इसीलिए कबीर ने इस प्रेम के व्यापार के विरुद्ध कहा:—

प्रेम विकंता मं सुना, माथा साटे हाट।
बूझत विलम्ब न कीजिए ततछिन दीजं काट।
(संत बानी संग्रह भाग १, १९।१०)

दूलनदास जी ने भी कहा है कि प्रेम मार्ग पर चलना हँसी नहीं है।[3] साधक का बलिदान एवं त्याग केवल सांसारिक सुख, ऐश्वर्य आदि तक ही सीमित नही है। उसे तो स्वं शरीरस्थ अहं भावना को भी त्याग देना होगा। कारण कि अह और प्रेम एक ही शरीर में नही ठहर सकता है।[4] इसीलिए सन्तों ने प्रेमी के हेतु अहम् तथा सजातीय भावो का त्याग करने के लिए बार बार उपदेश दिया है।

प्रेम की तीव्र धारा में वैदिक कर्म एवं लौकिक बाहयाडम्बर स्वतः बह जाते है। प्रेम के वेग में कर्म-त्याग अपने आप ही हो जाता है। साधक का मन सदैव आराध्य में नियोजित रहता है। उसके नेत्र संसार की प्रत्येक वस्तु में उसी ब्रह्म की छबि देखते है। इंद्रियाँ अपना अपना कार्य भूल जाती है। मधुर दिव्य ज्योति के प्रेम में वे इतनी आतुर हो जाती है कि उन्हें अपना व्यापार ही विसर जाता है। प्रेम की इसी स्थिति की अनुभूति होने पर रहस्यवादी सेंट मार्टिन ने कहा था कि मैंने उन फूलो को सुना जो ध्वनि करते थे और उन ध्वनियों को देखा जो जाज्वल्यमान थीं।"[5] "रहस्यवाद के उन्माद में जीवन इन्द्रिय-जगत से बहुत ऊपर उठ कर, विचार शक्ति और भावनाओं का एकीकरण कर, अनन्त और अन्तिम प्रेम के आधार

---

१. **यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहि।**
सीस उतारे भुई धरै तब पैठे घर मांहि॥

२. **प्रेम न बाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट विकाय।**
राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ ले जाय॥

३. **सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १३७।२**

४. **पीया चाहे प्रेम रस राखा चाहे मान।**
एक म्यान में दो खड्ग देखा सुना न कान।

५. I heard flowers that sounded and saw notes that shone.
—Mysticism–E. Underhill 12th. Ed. p. 7.

में मिल जाना चाहता है। यही उसकी साधना है, यही उसका उद्देश्य है। उसमें जीवन अपनी सत्ता को खो देता है।"[1] लौकिक एवं वैदिक बंधन ढीले पड़ जाते हैं। इसी स्तर पर पहुँच कर वासना, स्वार्थ, सिद्धि, ऐश्वर्य आदि की भावना निर्मूल हो जाती है। साधक के अन्तरंग एवं बहिरंग में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। गोपियों ने भी श्रीकृष्ण के प्रेम में स्व इन्द्रियों को चेष्टाहीन अनुभव किया था। लोक लाज उन्हें निःसार प्रतीत हुई थी।"[2] सन्त कवि सुन्दरदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ इसी भाव की व्यंजना करती है :—

न लाज तीन लोक की, न वेद को कह्यौ करै।
न संक भूत प्रेत की, न देव जच्छतें डरै॥
सुनै न कान और की, द्रसै न और इच्छना।
कहै न बात और की सुभक्ति प्रेम लच्छना॥

प्रेम के मधुर फल का आस्वादन करने के पश्चात् प्रायः सभी सन्तों ने वैदिक रूढियों एवं वाह्याडम्बरों की दिल खोल कर निन्दा की है। प्रेम की इसी तीव्र अनुभूति के अनन्तर प्रेम-योगिनी मीरा गा उठी थी। इसी स्तर पर पहुँच कर उसके लोक-लाज की भावना समाप्त हो गई थी :

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई
. . . .
. . . .
सन्तन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई॥

और इसी स्तर पर पहुँच कर उसने लोक-लाज की निःसारता का अनुभव किया था। इस सम्बन्ध मे बाउल साधक का निम्नलिखित कथन पठनीय होगा :—

बुलुक से बुलुक बुलुक यार मने या लयगो।
आपना पथेर पथिक आमि कारबा करि भयगो।
आमरे बीजे हयइगो आम जामेर बीजे हयगो जाम।
आमरे बीजे सच्चा आमि जय गुरु जय जयगो।

अर्थात् जिसे जो मन आए कहे। मै तो अपन ही पथ का पथिक हूँ। उससे विचलित नहीं हूँगा। मैं किसी से नहीं डरता हूँ। आम के बीज से आम ही उत्पन्न होता है तथा जामुन के बीज से जामुन। मैं के बीज में सच्चा "मैं"। बाउल जगा ने अन्तस के प्रेम पर अधिक जोर दिया

---

१. कबीर का रहस्यवाद; डा० रामकुमार वर्मा
२. चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु, यन्निविशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद् यामः कथंव्रजमथोकरवाम किं वा॥
श्रीमद्भागवत १०।२९।३४

है। अन्तस का प्रेम उत्पन्न होने पर बाह्याचार का बाँध विच्छिन्न हो जाता है। "अरे! तेरे ही शरीर में अतल सागर विद्यमान है। पर खेद है कि तू ही उससे अनभिज्ञ है। बाहर तू खोजता फिरता है और अपने शरीरस्थ शक्ति से अपरिचित है। उस अतल सागर का न कूल है न किनारा। न शास्त्र रूपी धारा है, न नियम है और न कर्म।"

आछे तोरइ भितर अतल सागर
तार पाइलि ना मरम
से था नाइ कूल किनारा शास्त्र धार
नियम कि करम ॥— जगा

इन्हीं वाहयाचारों की निन्दा करते हुए बाउल मदन ने कहा था :—

तोमार पंथ ढाइक्याछे मन्दिरे मस्जेदे।
तोमार डाक शुनि सांई चलते ना पाइ।
रइख्या दाँडाय गुरु ने भरशेदे॥
. . . .
तोर दुवारेइ नाना ताला पुरान कोरान तसबी माला।
भेरख पर बइ तो प्रधान ज्वाला काँइदे मदन मरे खेदे॥

हे नाथ, मंदिर एवं मस्जिद ने तो तुम तक पहुँचने के सभी रास्ते ढँक लिए हैं। मै तुम्हारी वाणी को सुनता हुआ भी अग्रसर नही हो पाता। कारण कि गुरु एवं मुर्शिद बिगड़ खड़े होते हैं......तुम्हारे ही द्वार पर इतने ताले पड़े हुए है। हाय! भेष और पथ तो प्रधान ज्वालाएं हैं। यह समस्त बाहयाचार और सत् पथ की बाधाएं देख देख कर मदन खेद के मारे रो रहा है।" कबीरदास ने स्वतः निर्भीकता के साथ लोकाचार, लोकालोचन के विषय में कहा था—

कबीर कोई कुच्छ कहे कोई कुछ कहे
हम अटके हैं जहाँ अटके।

रोम रोम में प्रीति के घुल जाने और समा जाने के बाद कबीर को भी मुख की श्रद्धा पर श्रद्धा न रही।[1] कबीर ने प्रेम के चमत्कारी प्रभाव का अनुभव किया था, इसीलिए इसके प्रभाव को "जहाँ प्रेम तहं नेम नहिं......" आदि शब्दों में व्यक्त किया।[2] दादू ने प्रेम की तुलना में

---

१. **प्रीति जो लागी घुल गई पैठि गई मन माँहि।**
रोम रोम पिउ पिउ करै मुख की सरधा नाँहि॥

२. **जहाँ प्रेम तह नेम नहिं तहाँ न बुधि व्यौहार।**
प्रेम मगन जब मन भया कौन गिने तिथि बार॥

वेद एवं पुस्तक ज्ञान को हेय बताया है।[1] कबीर की भाँति सहजो बाई ने भी नियम कर्म[2] तथा लौकिक बन्धनों[3] की निस्सारता उस समय अनुभव की जब प्रेम का बीज उनके हृदय में अंकुरित हो उठा। इसी आशय से सम्बन्धित दयाबाई की दो बानियाँ पठनीय हैं—

"दया" प्रेम उनमत्त जे तन की तिन सुधि नांहि।
मुके रहें हरि रस छके, थके नेम व्रत नांहि॥[4]
दया प्रेम प्रगट्यो तिन्हें तन की तिन न संभार।
हरिरस में माते फिरें, गृह बन कौन विचार॥[5]

उपर्युक्त पंक्तियाँ इस बात की द्योतक है कि प्रेम, नेम व्रत, वानप्रस्थ, गृहथाश्रम से उच्च और उत्कृष्ट है। प्रेम और नियम, जप तथा तप आदि एक ही स्थान पर नही ठहर सकते हैं। प्रेम-भाव के उद्रेक के अनंतर कर्म और जनेऊ को तोड़ फेंकने का भाव पलटू साहब में भी उपलब्ध होता है।[6] सारांश यह कि सन्त कवियों ने वास्तविक प्रेम की तुलना मे विधि,व्यवहार, लौकिक तथा वैदिक बाह्याडम्बरो की तीव्र आलोचना की है। सन्तों ने अन्तस्साधना पर अधिक जोर दिया है, साधन के बाह्य उपकरणो पर कम-बहुत कम।

प्रेम "कामनारहित गुणरहितम्" है। नारद मुनि के शब्दो में "गुणरहितं कामना-रहितं प्रतिक्षण वर्धमानमविच्छिन्न सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्" है।[7] गुणो को देख कर समुत्पन्न प्रेम अस्थायी प्रेम है कारण कि गुणों के अन्तर्हित होने के पश्चात् प्रेम भी विलीन हो जाता है। वास्तविक प्रेम वही है जो अपेक्षा, आकांक्षा, कामना आदि के सीमित क्षेत्र से ऊपर हो, दूर हो। प्रेम तो गुणातीत है। वह स्वार्थ की वासना के निकट भी नहीं है। प्राप्ति का विचार वासना है और वास्तविक प्रेम और वासना दोनों ही विरोधी भावनाएं हैं। इसी कारण सन्तों ने वासना से प्रेम को पृथक् रखने के पक्ष में अनेक स्थलों पर कहा है। प्रेम के द्वारा मुक्ति की कामना

---

१. दादू पाती प्रेम की बिरला बाँचे कोइ।
   वेद पुरान पुस्तक पढ़ें प्रेम बिना क्या होइ॥
२. प्रेम दिवाने जो भये नेम धरम गयो खोय।
   सहजो नर नारी हंसे वा मन आनन्द होय॥
३. प्रेम दिवाने जो भये जाति बरन गइ छूट।
   सहजो जग बौरा कहे लोग गए सब फूट॥
४. सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १७२।१
५. सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १७२।२
६. सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० २१५।६
७. भक्ति सूत्र ५४

वासना ही है। इसीलिए दीदार के मतवाले दादू ने "अघाइ" कर प्रेम का पान तो कर लिया पर मुक्ति की कामना नही प्रकट की :—

दादू राता राम का पीवे प्रेम अघाइ।
मतवाला दीदार का मांगे मुक्ति बलाइ ॥[१]

प्रेमांकुर के उगते ही दूलनदास ने भी अनुभव किया कि वासना उत्पन्न होना दूर है, उनकी पंच इन्द्रियाँ ही शिथिल हो गई।[२] बुल्ला साहब ने भी प्रेम प्याला पान करते ही विस्मृति का अनुभव किया था।[३]

सन्तों ने प्रेम का आदर्श चकोर एव मीन माना है।[४] कबीर की भांति अधिक सन्तों ने इन्ही दो के प्रेमादर्श को बार बार दोहराया है। कुछ सन्तों ने हस को भी आदर्श माना है, जो मोती के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को ग्रहण भी नही करता है। परन्तु चकोर एवं मीन का प्रेम परम्परागत है। प्रेम पर विचार प्रकट करने वालो मे से प्रायः सभी ने चकोर एवं मीन को आदर्श प्रेमी के रूप में स्वीकार किया है।

हिन्दी के सन्त कवि अपनी अनन्य भक्ति और अनन्य प्रेम के लिए सूफी कवि और बंगाल के बाउलो के समकक्ष सरलता से माने जा सकते है। अनन्य प्रेमी के विषय मे कहा भी गया है, "भक्ता एकान्तिनो मुख्याः"। वह मनसा, वाचा, कर्मणा अपने को ब्रह्म में समर्पित कर देता है। ब्रह्म और साधक की आत्मा में दिव्य संयोग स्थापित हो जाता है। प्रकृति की प्रत्येक लघु एवं महान् वस्तु में उसे ब्रह्म ही दृष्टिगत होने लगता है। ऐसी ही अवस्था मे पहुँच साधक का मन संसार के सभी तत्वों से फिर जाता है, उस दिव्य ज्योति के अतिरिक्त उसे और कुछ देखना अच्छा नहीं लगता है। हिन्दी के सन्त कवियों की रचनाओ से इसी आशय की कतिपय साखियाँ उद्धृत की जाती हैं :—

कबीर—१. कबिरा काजर रेखहू अब तो दई न जाय।
नैननि पीतम रमि रहा दूजा कहाँ समाय॥

दादू—२. प्रीति जो मेरे पीव की पैठी पिंजर माँहि।
रोम रोम पिव पिव करे दादू दूसर नाँहि॥

चरनदास—३. जाप करै तो पीव का ध्यान करै तो पीव।
पिव बिरहिन का जीव है, जिव बिरहिन का पीव।

---

१. सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० ८२।२
२. सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १३७।३
३. सन्तबानी संग्रह भाग २ पृ० १८९।२
४. सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १९।१२, १३

तुलसी साहब—४. अज्ञाकारी पीव की रहे पिया के संग।
तन मन से सेवा करै और न दूजा रंग।।
पति की ओर निहारिये औरन से क्या काम।
सभी देवता छोड़कर जपिये गुरु का नाम।।

उपर्युक्त पंक्तियों में "दूजा कहाँ समाय", "दूसर नाहिं", "ध्यान करे तो पीव" "और न दूजा रंग।", "सभी देवता छोड़ कर......नाम" विशेषरूपेण ध्यान देने योग्य हैं। सभी साखियों से एक ही ध्वनि प्रतिश्रुत होती है, और वह है अनन्य भक्ति, अनन्य प्रेम और एकान्तिकता की। कबीर ने तो दूसरे ब्रह्म की कल्पना को भी नही सहन किया है जैसा कि उनकी प्रस्तुत साखी से ज्ञात होता है :—

नारि कहावे पीव की रहे और संग सोय।
जार सदा मन में बसे खसम खुसी क्यों होय।।

सन्तो ने प्रेम को ही ब्रह्म का रूप माना है। जहाँ प्रेम है, हार्दिक प्रेम है वहीं ब्रह्म है, वही परमात्मा है। इसी बात को दयाबाई[1] और तुलसी साहब[2] ने बड़े विश्वास के साथ कहा है। यही भाव हमें दादू मे उपलब्ध होता है :—

इश्क अलह की जाति है, इश्क अलह का रंग।
इश्क अलह औजूद है, इश्क अलह का अंग।।[3]

दादू की उपर्युक्त साखी से प्राणनाथ की निम्नलिखित पंक्तियाँ बड़ा साम्य रखती हैं :—

इसक बसै पिया के अंग। इसक रहे पिया के संग
प्रेम बसत पिया के चित्त। इसक अखंड हमेसा नित।।
इसक दिखावे पार के पार। इसक अखंड घर दातार।

इस दृष्टिकोण म शिवदयाल के विचार भी दृष्टव्य हैं:—

"वह भंडार प्रेम का भारी जाका आदि न अंत दिखात।।"

प्रेम के विषय में दादू, प्राणनाथ और शिवदयाल के इन विचारों को पढ जाने के पश्चात् इस प्रसंग पर क्या कुछ और भी कहने की आवश्यकता रह जाती है ?

---

१. सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० १३७।६
२. सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० २२८।१, ३, ४
३. सन्तबानी संग्रह भाग १ पृ० ८३।१२

श्री वारणसि राममूर्ति 'रेणु'

किन्नेरसानि गीत

आधुनिक तेलुगु साहित्य-जगत में कविसम्राट् श्री विश्वनाथ सत्यनारायण का स्थान बहुत ही ऊँचा कहा जायगा। आपकी प्रतिमा सर्वतोमुखी है। वर्तमान साहित्य का शायद ही कोई ऐसा अंग होगा जिसमें आपने एक या दो अनूठी रचनाएं नही बनाई हों। इस समय के जीवित कवियों में आप श्रेष्ठ कहे जा सकते है। उपन्यासलेखकों में आपका स्थान अन्यतम है। समालोचक सत्यनारायण की लेखनी के सब लोग कायल हैं। नाटक व कहानियाँ रचनेमें भी आप किसी सामयिक लेखक से कम नहीं हैं। आपकी जैसी बहुमुखी क्षमता रखनेवाले किसी दूसरे कलाकार का मिलना इस समय मुश्किल ही माना जायगा। आपकी उत्कृष्ट रचनाओ में उल्लेखनीय है—'किन्नेरसानिपाटलु' (गीतिकाव्य), 'चेलियलिकट्टा', 'एकवीरा', 'वेयिपडगलु' (उपन्यास), श्रृंगारवीथी, श्रीमद् रामायण कल्पद्रुम (कविता व महाकाव्य), वेनराजु (नाटक) वगैरह। इनमेसे आज के लेख का विषय है 'किन्नेरसानि पाटलु'।

यह दृश्यमान बाह्य जगत मानव के अन्तर्जग ही का प्रतिबिंब होता है। प्रकृति तो उसका दर्पण मात्र रह जाती है। हम बाहर जो पेड़-पौधे, झाड़-झंखाड़, पत्थर-पहाड़, नदी-नाले वगैरह देखते है, इन्हे अपने से पृथक् वस्तु समझना अज्ञता ही होगी। मानव के सुख-दुख, हानि-लाभ, हास-रुदन, प्रेम-वैर आदि विचारों तथा भावनाओ के तो उपर्युक्त विषय स्पष्ट प्रतीक ही है। एक दूसरे के अपरिहार्य व अविभाज्य अश हैं। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व स्वाप्निक-वृत्त रह जाता है। किंतु मानव दूसरो का मुँह भली भाँति देख सकता है, अपना नही। अपने बारे मे उसका ज्ञान अत्यंत परिमित रहता है। इसी प्रकार वह वाह्य सृष्टि के वैचित्र्य एवं वैविध्य को विस्मय-विस्फारित नेत्रो से देखने लगता है। उसकी प्रशंसा करते थकता नहीं। मगर सीधी सी बात जान नही पाता कि अपने भीतर जो भावों तथा विचारों का विश्व लहरा रहा है उसके समक्ष ये वस्तुएं कोई महत्व नही रखती है। लेकिन कलाकार का, विशेषकर कवि का दृष्टिकोण इसके लिए अपवाद हुआ करता है। वह तो ऋषि, द्रष्टा होता है। आत्मदर्शन कर लेने की उसकी साधना ही सच्ची कविता कहलाती है। बाह्य एवं आंतरिक जगत के बीच सुन्दर समन्वय तथा सामञ्जस्य स्थापित करना ही उसका सतत प्रयास हुआ करता है। दोनों को एक करनेवाला सेतु बनकर वह विराजमान रहता है। उसकी दृष्टि धीरे-धीरे अन्तर्मुखी होकर बाह्य व्यापारों तथा वस्तुओं के लिए आधार रूप विषयों याने विचारों व भावनाओं का अन्वेषण किया करती है। *सावधान एवं जागरूक रहकर निरीक्षण करने पर प्रत्येक बाहरी वस्तु का किसी अभ्यंतर विकार*

या विचार के साथ अवश्य कोई अज्ञात एवं रागात्मक संबंध नयनगोचर हुआ करता है। इस 'जड़' के सहारे उन 'चेतन' विभूतियों को प्रकाश में लाने का यत्न वह करता है। ऐसी दशा में उसके लिए सृष्टि की कोई भी वस्तु, चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो, हेय अथवा नगण्य नहीं रह जाती। तुच्छ से तुच्छ तृणांकुर भी अश्रुओं के लिए अशक्य एवं अग्राह्य भाव-सौंदर्य की सृष्टि कर डालने में समर्थ हो जाता है। ऐसी दृष्टि केवल रससिद्ध कवि ही को प्राप्त हो सकती है।

श्री सत्यनाराण जी के किन्नेरसानि गीतों की रचना ऐसी ही अपूर्व दृष्टि का सुस्वादु फल है। रसात्मकता इन कविवर का प्राण है। यों कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि इनका संपूर्ण जीवन ही एक रस से छलकता काव्य-चषक रहा है। भद्रगिरि श्रीरामचंद्र जी की पवित्र निवास-भूमि है। तेलुगु वालों का परम पुनीत क्षेत्र है। उससे कुछ ही दूरी पर एक छोटा सा टीला है जिसकी परिक्रमा करते हुए एक छोटी स्रोतस्विनी निकलती है। यह कुछ दूर बह कर महान नदी गोदावरी में संगम कर जाती है। बस, यही टीला और झरना — जिसका नाम 'किन्ने-रसानि वागु' है— कवि की अमर कृति की आधार-शिला बन गई है। भगवान रामचंद्र के दर्शनों को जाते समय, कई बार उन्हें देखने का संयोग कवि को मिला। अज्ञात रूप से उनके हृदय में भावों तथा विचारों का मंथन प्रारंभ हो गया जो कि उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। परिणामस्वरूप एक सुदर रसायन, नवनीत तैयार हो उठा! उसका मधुर भार वहन करना उनके लिए असह्य हो चला। निदान् एक सरस वसंत के स्वर्ण-विहान् में वह साकार हो अवतीर्ण हुआ साहित्य-क्षितिज पर!

उपर्युक्त मूर्त-दृश्य को स्वीकार कर, अपनी भव्य कल्पना एवं प्रतिभा की भट्टी में गला कर उसे तलस्पर्शी कहानी का जो स्वरूप दान दिया गया है, वह संक्षेप में यों है—

"किन्नेरा पतिव्रताओ की रानी है। और सभी तेलुगु बालाओं की भाँति उद्विग्न-हृदया है। प्रायः सभी तेलुगु परिवारों में देखे जानेवाले, सास और पतो हू के बीच वैमनस्य एवं झगड़े उस घर में भी चलते है। आत्मज के सुख का ध्यान न रखनेवाली सास के लिए मृदुल-हृदया किन्नेरा पर दोषारोप करना नित्य-जीवन का पहला काम हो गया है। एक कुसमय में उस धूर्त स्त्री ने उस पर ऐसा भयंकर आक्षेप लगाया जिसे वह पति-प्राणा किसी भी तरह नहीं सह सकी! उसका हृदय दुख के अतिरेक से प्रलय-समुद्र बन गया। बेचारा उसका पति आखिर करेगा क्या? माँ की बातों का प्रतिवाद करने की —पारिवारिक शांति में विघ्न डालने की —हिम्मत व धृष्ठता उससे न हो सकी! न अपनी निर्दोष सती ही को समझा पाया। आवेगमय हृदय लेकर किन्नेरा दुर्गम वन-पथों में दौड़ पड़ी। मिथ्या आरोप से लांछित अपना मुख, समाज को दिखाती भी क्यों कर? बिचारा पति उसके पीछे दौड़ा। रोकने का प्रयत्न किया। लाख मनाया। उसको अपने आलिंगन-पाश में बाँधा! मगर व्यर्थ! मोम जैसे अंतरवाली किन्नेरा प्रियतम के आलिंगन ही में गल गई; पानी पानी हो गई; स्रवंती बन कर प्रवहमाना बन चली! पति रो रो कर पाषाण बन गया! अपने पवित्र प्रेम का प्रमाण प्रस्तुत कर गया!

सहृदय पाठकगण! तनिक सोच लीजिएगा, एक साधारण टीले तथा उससे सद्

कर बहनेवाली नहर के मामूली दृश्य ने रससिद्ध कवि की कल्पना का पारस-स्पर्श पा कर कैसा अमर रूप धारण कर लिया है ! उसने भाव-प्रवण कवि को कितना अभिभूत कर डाला है ! स्वयं कवि कहते हैं, अलीक लांछन की आँच से गलनेवाली उस स्रोतस्विनी का करुण मधुर संगीत आज भी उनके अंतर में मुखरित हो रहा है —

"वनमुलनुदाटि वेन्नेल बयलु दाटि,
तोगुलनु दाटि दुर्गमाद्रुलनु दाटि,
पुलुल यड्गुल नड्गुल कलुपुकोनुचु
"राल्लवागु" दाटि पथांतरमुलु दाटि
अचट किन्नेरसानि......"
नायात्मयंदु
निप्पटिकि वानि संगीतमे नदिचु....

अर्थात् वनों को, ज्योत्स्ना विलसित मैदानों को, झाड़झंखाड को, दुर्गम पर्वतों को पार कर, व्याघ्र-पद-चिन्हों में अपने चरण-चिह्न मिलाते हुये, 'राल्ल वागु' (पथरीले झरने) का अभिगमन कर अनेक पथांतर पार कर, वहाँ किन्नेरसानी ......मेरे हृदय में —

आज भी उसका संगीत नदित होता है !

इतनी सारी चीज पार कर अंत में 'किन्नेरा' गोदावरी में मिल जाती है।

साधारण रूप से भारतीय समाज में और विशेषकर तेलुगु घरों में, यह देखा जाता है कि जो लड़कियाँ घर छोड़ भाग खड़ी होती हैं उनकी नीयत को ले कर तरह तरह की अफवाहें उडाई जाती हैं, जिनका कि वास्तविक कारणों से कोई संबंध नहीं रहता। बहुत से ऐसे नीच व घृणित व्यवसायी भी होते हैं, जो ऐसी बालाओं का पता धूर्त्त विट-समाज को दिया करते हैं। और वे विट-जन भी वस्तु-स्थिति का ज्ञान रखे बिना उन पूत-शीलाओं का सर्वस्व हरण करने के स्वप्न देखा करते हैं ! कुछ ऐसे भी सहृदयों से जगत रिक्त नहीं जो ऐसी दीनाओं के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। उनकी वह सहानुभूति कभी कभी इस सीमा तक बढ़ जाती है कि वे समाज अथवा अपनों की परवाह न करके उन्हें अपने यहाँ आश्रय देते हैं। इस समस्त सामाजिक-मनस्तत्व (Social Psychology) का आरोप करते हुए कवि ने कुछ ऐसे सरस प्रसंगों का समावेश करा दिया है, जिससे सारा काव्य हृदयहारी करुण तथा मर्यादाविलसित हो उठा ।

घर छोड दौड़ पड़नेवाली नदी-रूपिणी सती किन्नेरा की चर्चा, नीच दौत्य करनेवाले पवन-बालक और पयोदबालायें 'नदीनां पति' सिंधु से जाकर कर देते हैं। नरपति बहु पत्निव्रती तथा नूतनता के प्रेमी होते हैं। सो औचित्य का विचार ताक पर रख, सागर, सौंदर्य की पिटारी और जवानी की चलती फिरती पुतली किन्नेरा को अंकशायिनी बना लेने को उद्यत हो जाता है। दूर से आनेवाली उस साध्वी का सौंदर्य-पान करने उमँग उठता है। पैर के अंगूठों के बल खड़े

हो अधीरता के साथ उसकी प्रतीक्षा करने लगता है ! अपने तरंग-हस्तों से उस बिचारी का आह्वान करता है ! अपनी ही जल्दबाजी के कारण पति-प्रेम से वंचित रह जानेवाली, पश्चात्ताप की आग में दग्ध होनेवाली किन्नेरा दूर से सागर की वह उमंग (ज्वार) देख लेती है। उसके सिर पर वज्र ही टूट पड़ता है। अपने एकाकीपन, अवशता व असहाय स्थिति का ध्यान कर विलाप करती है। रास्ते में ही रह जाना चाहती है। छोटे मोटे पत्थरों के पीछे रुकती है, झाड़-झंकाड़ की आड़ में ठिठक जाती है। अपनी क्षणिक सफलता पर हर्षातिरेक से उछल पड़ती है ! परिणाम स्वरूप उमड़ बहती है, उन्हें पार कर ![1] हाय ! कितना आत्मघाती है उसका वह हर्षोल्लास ! कितनी करुण है, क्रूर है ! अपने इस प्रयत्न मे विफल हो कर उपायांतर का आश्रय लेना चाहती है। आगे बढ़नेवाली लहरों को रोके रखना चाहती है। रेंगते हुए बढ़े जाने की अपनी प्रकृति का गला घोटना चाहती है ! मगर हाय ! कभी जल भी अपने स्वभाव—प्रवहमानता—का त्याग कर सकता है ? उन्नत स्थान में रह जाने की, उसकी बान ही नही। निचाई की ओर वह तीव्र गति से, अपने संसर्ग में आये सभी को लेकर बढ़ जाता है। जंगम करुणा की प्रतिमा किन्नेरा अपनी सलिलता से अभिशप्त है ! इच्छा न करने पर भी उसे आगे बढ़ना पडता है। शुष्क सिकतामय भूमि भी मानों स्वयं उसके स्पर्श से रसार्द्र हो उठती है ! जल सुखा लेने की उसकी शक्ति कुण्ठित पड़ जाती है ! किन्नेरा का जल खीचकर, उसकी गति में अवरोध प्रस्तुत कर, उसकी सहायता कर देने का शुभ संकल्प कर तो लेती है किंतु उसे कार्यान्वित करने में अपनी अवशता का ख्याल कर स्वयं सिर धुन लेती है ! अहा, कितनी करुण एवं क्रूर, पुनीत तथा भयंकर दशा है ! रुदन की तीव्रता से उसकी गति भी बढ़ती है। उसकी बुद-बुद में हृदय में हजार हृदय लगे रहते हैं। लहर-लहर मे हजार कण्ठ लगे रहते है ! जब नारी रूप छोड़ रूपांतर धारण करना ही था, तो नदी ही क्यों बनी ? काश, कि वह एक तारिका बनती, पौधा हो जाती ! सिंधु के पंजे से उसका परित्राण तब क्या इस कदर असंभव होता ? उसके धीमे धीमे रुदन वन्य जन्तुओं के आस्य-विवरों में प्रवेश करते है। उनमें भी रुदन की सृष्टि करते हैं ! पति के टीले का स्पर्श कर आया हुआ पवन उसको सांत्वना देता है। उसके सुखद स्पर्श से किन्नेरा के भागते प्राण मानो लौट पड़ते है। किंतु

---

१. प्रकृति के व्यापारों का मानव-स्वभाव के साथ कैसा सुन्दर अप्रतिम समन्वय है ! कैसी अद्भुत सूझ है ! यही एक पद सत्यनारायण जी को महाकवि के आसन पर बिठाने में समर्थ है। मूल पंक्तियों का सौंदर्य भी देख लें—

> "रायड्डमुग जेसि निलुचू,
> पोदलड्डमुगु जेसि निलुचू,
> इंत निल्चिति नंचु नेंचि लो नुप्पोंग,
> पोंत पोतल राल्लु पोदलु पै पै पोगि,
> अडवि परुगेत्तू ! अंतलो नेंड्चू !"

दूसरे ही क्षण अपनी भूल तथा पति के शिलात्व की स्मृति हो जाती है ! दुख का ज्वार उठ आता है ! हाहाकार करती हुई आगे बढ़ती है । नयी नदी का नया पानी पीने के आतुर वन्य-प्राणी किन्नेरा का हाल देख ठिठके रह जाते हैं ! अपना सारा उत्साह भूल बैठते है । गाभिन हरिणी के चपल नेत्र छलछला उठते है ! किनारे पर शश-शावक, दिल छोटा बनाये , तनिक तनिक से कान खड़े कर अगली टाँगें उठाये, सांत्वना देने में अपनी असमर्थता का बोध हो जाने पर देखते ही रह जाते है ! सभी पक्षी अपने बच्चों को छोड़, चारा पानी का विचार त्याग उस जंगली झरने की ज्वाला शांत करने आ जुटते है । किन्नेरा के सुर में सुर मिलाकर रो देते है । उस करुण क्रंदन की ध्वनियाँ बिखर बिखरकर सर्वत्र फैल जाती है । कुछ तो छोटे छोटे पौधों के पल्लवों का स्पर्श कर नंदन-वन के भ्रमर-झंकार से श्रवणगोचर होने लगती हैं । कुछ हरे मैदानों में, घाम से थके जंगली कबूतरों के अस्फुट रवों से, फैलने लगती है ! फिर वे रुदन-रव आगे बढ़कर गोदावरी के अभंग भगों के अंतराल में आश्रय ढूढने लगते है । अपना दुखड़ा रो कर उसे सुनाते है । उस महानदी की विशाल क्रोड़ में घुस कर सर धुनने लगते है ।

गोदावरी समस्त नदियों की दीदी है । सागर की महीयसी राज्ञी ! समस्त मर्यादाओं की सीमा ! वह सब खबर सुन लेती है। दया से उसका हृदय भर आता है। उमड़-घुमड़ कर आगे बढ़ती है। तरंग-हस्त फैला अभय दान देती है। दुखियारी किन्नेरा का स्वागत करती है।

और किन्नेरा ? उसकी क्या दशा है ? मरुभूमि में जलाशयवत् यह अचिंत्य एवं अप्रत्याशित आमंत्रण पाकर वह कृतज्ञता से सिकुड़ जाती है। उसका गला भर आता है। मन ही मन आनंद का अद्भुत नर्तन होने लगता है। अश्रुमोचन कर अपनी करुण गाथा सुना बैठती है । उसका ढाढस बँध जाता है; दुख की हिचकियाँ थम जाती है !

गोदावरी-संगम सहृदय जनों के अंतर्जगत की बुनियादें हिलाने वाला एक अत्यन्त तलस्पर्शी दृश्य है। समचे काव्य का प्राण । उसको पढते समय प्रातःस्मरणीय गुसाईं जी के राम-भरत मिलाप का पावन प्रसंग नेत्रों के सामने तिर जाता है। यही एक दृश्य इस अद्भुत काव्य को अमरत्व प्रदान कर सकेगा। कवि के उदात्त व भावनाप्रवण अंतर्जगत का दर्शन पाठक उसमें कर सकेंगे। किन्नेरा की करुण व कष्ट-पूर्ण गाथा सुनने पर उस महादेवी के मानसलोक में कैसा तूफान मचा, उसके क्रमपूर्ण शब्द-चित्र उसमें अंकित हैं।

किन्नेरा की गाथा सुनने पर गोदावरी के हृदयरूपी आलवाल में घनीभूत समस्त करुणा पहले स्पंदित हुई, फिर हिली, निदान जड़ों समेत उखड़ कर बह निकली ! उसने किन्नेरा के, पातिव्रत से सुरभित श्वेत-केतकी जैसी तरल-तरंगों से भेंट की। अपनी विशाल तरंगों से उसे आच्छादित कर लिया। प्रेम-गद्‌गद् स्वर में उस दीना को पुचकार कर कहने लगी—

'आ गई हो, मेरी प्यारी बहन ! जरा दिखाओ तो अपना फूल सा प्यारा मुखड़ा ! दुर पगली ! अब भी डर काहे का है तुम्हें ? भूल जाओ सारा दुख। आहा ! कितनी सीधी हो तुम ! हाय रे विधाता ! तुम्ही पर यह विपत्ति का पहाड़ टूटना था ! कठिनाइयों की ज्वालाओं में

तपन्ना पड़ा था तुम्हारी ही इन नन्हीं जानों को ! पति प्रस्तर-खंड बना ! और तुम बनी तरल-जलराशि ! डरो मत लाल ! मेरा विश्वास मानो ! मैं तुम पर किसी प्रकार की आँच न आने दूँगी। अक्लमंदों के अगुआ बड़े बड़े लोकनायक ही तुम्हें देख, अपनी अक्ल खो बैठे ! देखो न लाल ! तुम्हारे करुण पावन रुदन से रोदसी भर गई ! अब बस करो ! धूर्त सरित्पति तुम्हें देख न सकेगा। तनिक नजदीक आओ तो, तुम्हें अँकवार लूँ ! नई कोंपल जैसी तुम्हारी ये नन्हीं लहरें अपने बाहु नालो में छिपा लूँ ! सागर तुम्हारा बिंदु[1] तक न देख पायेगा। तुम निश्चित रह जाओ !'

स्नेह, वात्सल्य तथा आत्मीयता से सराबोर सांत्वनापूर्ण वचनों के साथ माता गौतमी किन्नेरा को अपने में मिला लेती है। इन शब्दों को मुँह से निकालते समय उस महीयसी का हृदय पहले स्पंदित होता है, फिर उसकी ग्रंथियाँ ढीली पड़ जाती है, मानसिक गहराइयाँ छटपटा उठती है! सकरुण आंत्रराशि आर्द्र बन जाती है ! करुणा के प्लावन से हृदय-तट कट जाते है ! उसका कोना कोना किसी भयंकर यंत्रणा से पिस जाता है !

अब उस पावन प्रसंग का भव्य चित्र देख कर आँखें सुफल बना लीजिए। 'गोदावरी महाकूलंकषामृत श्री दिव्य-मधु-तरंगो में भोली किन्नेरा की नन्ही-सीधी लहरें मिल कर इस कदर अगोचर रह गई जैसे तीर्थराज में भागीरथी से संगम कर सरस्वती अदृश्य हो जाती है ! नव-मुक्ताओं की भांति जगमगाने वाली गोदावरी-तरंगों मे सीधी-नन्ही किन्नेरा की लहरे कोमल ज्योत्स्नाकुरों के साथ नव मल्लिका प्रसूनों की तरह हिलमिल गई ! दोनो का प्रेम उस समवेत परिमल सा महँक उठा ! केवड़ों जैसी तेज नुकीली तरंगो के साथ किन्नेरा की सीधी-नन्हीं लहरे इस भांति मिल गई मानो गोधूम तथा श्वेत बादलों की नयनाभिराम जोड़ी बैठी हो ! दोनों सुन्दर व प्रेमविह्वल आलिंगन मे आत्म-विस्मृत हो उठी ! गोदावरी की धीर-मद्रध्वनि

---

१. यहाँ बिंदु शब्द का प्रयोग श्लिष्ट तथा सुन्दर बन पड़ा है। बिंदु को तेलुगु में बोट्टु' कहते हैं जिसके तीन अर्थ होते है—बूँद, चेहरे पर लगानेवाली बिंदी, और सतीत्व का चिन्ह याने गल-प्रदेश में रहनेवाला मांगल्य। सती साध्वी स्त्री अपने चेहरे की बिन्दी और गले के मांगल्य पर, जिन्हें वह प्राणों से भी बढ़कर मानती है, किसी अन्य पुरुष की नजर पड़ने नहीं देगी। इस प्रकार उक्त शब्द के दो आशय निकलते है।—'मैं तुम्हारी एक जल-बिंदु तक सागर को दिखने न दूँगी।' यह वाच्यार्थ हो गया। व्यंग से यह प्रकट होता है—"मैं तुम्हारे सतीत्व की रक्षा सर्वभावेन कर दूँगी।' मूल पंक्तियों का सौंदर्य देखें—

"गोदावरी देवि कोसमनसुलो नोरसि
एदि नीयोडलु ना तल्ली ! चेर्चु
नादु कौंगिटिलो चेल्ली ! तल्लिनी
ले दलिरु केरटाल नादु काल्वदल नितु
नीदु बोट्टुनु कडलि कनडू नातल्लि !"

करने वाली तरंगें किन्नेरा की सीधी-नन्हीं लहरों से मिलीं तो ऐसा लगा कि छोटी बड़ी दो बहनें सरे-बाजार भेंट कर, हँसी की पकी फसल काट रही हो! हीरे-जवाहिरात का ढेर लगा रही हों! ठुमक ठुमक कर नाट्य करने वाली तथा मीनों जैसी लहरायमान गोदावरी की तरंगें किन्नेरा की सीधी-नन्ही लहरो से मिल कर किसी हिंडोले में झूलने वाले शिशु की शारीरिक शोभा की हँसी उड़ाने लगीं! इस प्रकार पवित्रता, प्रेम, वात्सल्य, सौंदर्य, कोमलता आदि विविध रूप धारण कर गौतमी ने उस नन्हीं सी जान को अपने जलों के आलवाल में—जड़ में—जगह दी है। दोनों के प्रेमविह्वल स्वरो से, कोई अस्फुट एव अव्यक्त-मधुर-ध्वनि निकली जैसे कि दो कोमल अंभोदों के परस्पर रगड़ खाने से निकला करती है!

इस अपूर्व संगम से सिंधुपति की आशाओं पर पानी फिर जाता है। उसकी आकाक्षा का आलवाल जड़ों समेत उखड़ जाता है। गुस्से में आ कर पत्नी को डाँटने का विचार करता है। फिर उसकी उपयोगिता को ले कर तर्क-वितर्क किया करता है। डरता है कि कही मामला बेढब न हो जाय; अपने बड़प्पन की कलई खुल न जाय; लेने के देने न पड़ें!

मगर क्यों? पत्नी से इस भाँति भयभीत होने की जरूरत ही क्या पड़ी है सागर को? वह भली भाँति समझ जाता है कि गौतमी उच्चवंश की रानी है, सप्तर्षियो की आत्मजा है, पूतशीला है! इधर उसकी (सागर की) आकाक्षा के फल में ही अपवित्रता, अन्याय व कलंक निहित हैं। फिर उस न्याय की प्रतिमा—गोदावरी—का प्रतिवाद करने के लिए उसके पास दलील भी होनी चाहिए! न्याय के उच्चासन से गिरे हुए को सहारा ही कहाँ मिलेगा? क्या कह कर वह दुनिया वालों की सहानुभूति प्राप्त कर सकेगा?

गोदावरी की प्रकृति की एक और भव्य-विभूति की भी सागर अच्छी जानकारी रखता है। वह पर-दुख-कातरा जो है; मर्यादा पुरुषोत्तम रामचद्र तथा सीता माता के विरहाश्रुओं की आँच अभी वह भूली नही है! उनके पावन रुदन की गूँज आज भी उसके (गौतमी के) अतर को मुखर बनाए है! फिर भला धूर्त-सागर, ऐसे नीच प्रसग को ले कर, उससे चार आँखे कैसे कर सकता है? क्रोध, क्षोभ एवं लज्जा वश लहू का घूँट पी कर रह गया! मन ही मन कुछ बड़बड़ाता रह गया!

परिणाम यह निकलता है कि किन्नेरा अपनी दीदी की ठण्डी गोदी में चिर-विश्राम पा जाती है। पहले तो—मानव शरीर धारण करते समय—शायद उसे मृत्यु-भय लगा रहता! किंतु इस नूतन स्थिति में उसे अमरता ही प्राप्त हो गई! उसका पति भी शिला के रूप में अजर व अमर बना है! अपनी परिवर्तित दशा के साथ वह कुछ इस प्रकार का समाधान कर लेती है!

वैसे तो यहाँ आ कर कथा की समाप्ति हो जाती है। किंतु, फिर भी काव्य आगे बढ़ता है। कवि की लेखिनी एक सर्ग और अंकित कर विश्राम लेती है। उसमें नदी-रूप-धारिणी किन्नेरा के, दिन के विभिन्न समयों में तथा वर्ष की विविध ऋतुओं में गोचर होने वाले, अद्भुत सौंदर्य का स्वाभाविक एव शिवंकर वर्णन मिलता है। इस सर्ग मे श्री सत्यनारायण की अपूर्व उपमाओं की छटा देखते ही बनती है! उषः कांति में किन्नेरा नदी ऐसी शोभायमाना लगती

हैं मानों असंख्य मणिधर काले नागों की क्रीड़ास्थली हो ! थोड़े समय अनंतर जब दिन-मणि दर्शन देने लगते हैं, उसी स्रोतस्विनी का उपरितल एक दूसरे ही प्रकार की अनोखी आभा से दमक उठता है। ऐसा लगता है मानों किसी ने जमीनपर हल्दी में रँगी धोतियाँ फैला दी हों और वह प्रत्यूष पवनांकुरों के हल्के झोंकों से लहरा रही हों !

उदाहरण के लिए इन दोनों उपमाओं को ले कर इनके औचित्य पर विचार करेंगे तो कवि की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का पता लग जावेगा। उषा के समय अन्धकार का सर्वथा लोप नहीं हो जाता। उस वक्त नदी का उपरतल काला ही रहता है। किंतु पवन के हल्के झोंकों से जब उसमें लहरें उठती है, उनके उभरे हिस्सो पर उषा की रश्मियाँ पड़ जाती है। प्रत्येक लहर की अग्रिम-बिंदु महानाग के फणाग्र पर चमकने वाली मणि की तरह, और शेष पिछला अंश काले नाग के शरीर की तरह दिखाई पड़ते है। इस प्रकार समूची नदी का उपरितल अनेक असित नागों की क्रीड़ा-भूमि सी, जहाँ वे उछलते, कूदते, सरपट दौड़ते तथा नाटच करते हों, लगता है ! वही नदी-तल कुछ ही क्षण बाद एक निराली हो छटा दर्शाता है। उदित होनेवाले किंचित् अरुण सूर्य बिंब की सुनहली कांति का प्रसार उस पर होता है। लहरो में स्पंदन अब भी पूर्ववत् जारी है। सर्वत्र स्वर्ण-रश्मि के पड़ जाने से लहरो समेत नदी फैले हुए हरिद्रा रग की साड़ी ही सी लगेगी, जो मारुत के मृदु थपेड़ो से, इस छोर से उस छोर तक लहराती रहती है। इसी प्रकार दिन के तीसरे पहर के बाद (ढलने पर) किन्नेरा ऐसी लगती है मानो कोई किसान अपने खलियान में सूपो मे गेहूँ भर भर कर प्रस्फोटित (उड़ाई) कर रहा हो और भूसा आदि बीजों से अलग उड़ कर दूर तक हवा में लहरा रहे हो ! चंद्रिका-धवलित यामिनी मे गल कर साँचे मे ढली चाँदी सी चमक दर्शाती है !

इसी प्रकार विविध ऋतुओ मे किन्नेरा के विविध रूप-रग, साज-शृगार एव स्वाद-सौरभ सब को मुग्ध करते रहते है। वसंत में पति के विरह के कारण उसकी सारी देह पीली पड़ कर क्षीण रह जाती है, तो सावन-भादों मे पति-शैल पर बरसने वाले प्रेम-जीवन से परिप्लावित रहती है ! हेमत मे नीहार पटलों से आवृत हो, असूर्यपश्या अतपुरागना के श्वेत एवं क्षीण अवगुण्ठन के भीतर दमकने वाले चाँदी के तार की भाँति भासित होती है। 'शैवाभिषेकरञ्जन्नारिकेलगर्भाबुजाल' निर्जन वन प्रांत में प्रवाहित हो रहा हो, ऐसी नयनाभिराम लगती है। शिशिर मे तीरस्थ-तरु-पत्रों के पड़ने से उसका पानी कसैला रहता है ! एक रक्ताभ-नव-मधु-स्रोत सी लगती है ! इस प्रकार ऋतु ऋतु मे, समय समय में अपने स्वाद, सौरभ व शोभा बदला करती है। तेलुगु सत्कविराज की वाणी की भी पहुँच के बाहर रहने वाली मिठास के बोझ से लद कर, झुकी-झुकी, आगे बढ़ जाती है। भद्रगिरि पर विराजमान, तेलुगु देवता श्रीरामय्या के मंदिर-मार्ग का पहरा जागरूक रह कर दिया करती है किन्नेरा ! तेलुगु तीर्थिको को हिमशीतल जल प्रदान करती है किन्नेरा ! तेलुगु यात्रियों को ग्रीष्म काल में ठंडी-घनी छाँव दे कर उनकी थकान मिटाती है किन्नेरा ! भद्रगिरि पर विराजमान तेलुगु भगवान रामय्या के मंदिर-मार्ग की रखवाली किया करती है किन्नेरा !

यह काव्य संगीत-प्रधान है। इसमें भावों तथा संगीत का अनोखा ताना-बाना विद्यमान है। तेलुगु के एक प्राचीन कवि भट्टमूर्ति ने 'वसुचरित्रमु' नामक एक अपूर्व सर्गबद्ध श्लिष्ट काव्य रचा है। उसकी कथावस्तु में तथा 'किन्नेर-सानि पाटलु' के इतिवृत्त में कुछ समानता लक्षित होती है। शायद कवि को इस कृति की रचना के लिए उसी काव्य से प्रेरणा मिली हो। किंतु वसु-चरित्र में और इसमें एक अंतर है। प्रथम कृति में पाठ्य-संगीत की अद्भुत योजना है, जब कि दूसरी रचना का सर्वस्व गेय-संगीत (गीत-प्रधान) बना है। 'वसु चरित्र' के छंद वीणा पर बड़ी खूबी से गाये जा सकते है। वही एकमात्र तेलुगु का पद्य-काव्य है जिसमें यह विशेष गुण पाया जाता है। सत्यनारायण ने इस छोटी कृति में संगीत का अच्छा समावेश करा दिया है। यह संगीत वैसे तो काव्य की प्रत्येक पक्ति में लक्षित होता है, किंतु 'किन्नेर संगीतमु' शीर्षक वाले गीतों मे यह अपनी चरम परिणति को प्राप्त हो गया है। छोटे नाले की तरह निकल कर कोई प्रवाह उत्तरोत्तर बढता जाता है, और निदान नदी का रूप धारण करता है, तो उसकी ध्वनियाँ विविध स्थानों मे पृथक पृथक रहा करती है। उनको ठीक ठीक समझ कर वर्णन करने के लिए कवि मे सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति तथा अनुभूति की अवश्यकता रहती है। जल का, उसकी धीमी व तेज धाराओं का, खूब अध्ययन करना पडता है। जल-हृदय का अनुसंधान करना अपरिहार्य बन जाता है। यदि 'अश्व-हृदय' की भांति 'जल-हृदय' नामक किसी शास्त्र की विद्यमानता हम थोड़े समय के लिए स्वीकार करेंगे, तो निस्संदेह श्री सत्यनारायण उसके आचार्य कहे जा सकते है। उनकी इस क्षमता का पता 'किन्नेर नृत्य' तथा 'संगीत' के वर्णनों में लगता है। कभी वह धारा पुष्प-कन्या की तरह इधर-उधर झूमती है, कभी बिखर जाती है। कभी उसकी तरंगे उड़ कर नूपुरों की तरह झनझना उठती है ! फिर अपनी सजावट बदलकर श्वेत पुष्प-गुच्छों की भांति हवा की लहरो में झूला करती है। पथरीली जमीन पर छलांगें मारती है, हरिण-शावकों सी कुलाँचें भरती है। कही वे रेंगती हुई जमीन पर फैल जाती है। शहद की धारा सी मीठी लगती है। मनोहर फेन-कुसुमों की मौर पहने, वायु मे लहराने वाले विकसित पुष्पवन की शोभा बरसाती हैं। नई नई चाल, नई नई तानों तथा नई नई महक से दसों दिशाओं में सुरनदी सी दीप्ति बिखेरती है !

किन्नेरा की नन्ही तरंगों में, फेन मे, कभी अमृत के छीटे बरस पड़ते है तो कभी सहस्र-सहस्र किंकिनियाँ बज उठती है। उसके मधु-सिक्त गीत सुन कोयल शरमा जाती है, रसाल के नव पल्लवों की आड़ मे अपने को छिपा लेती है। मिश्री की लाल शर्बत सी लहराने वाली उसकी ध्वनियों के सामने शुक की बोली फीकी पड़ जाती है। कही कही उसके संगीत में 'धण धंगिणाम् दधोगिण तक्किणाम्' आदि गतों मे शत-शत मृदंग बोल उठते है ! शुक्ल द्वितीया के ज्योत्स्नांकुरों की कोमलता तथा आह्लादकारिता का तिरस्कार करने वाला, किन्नेरा का संगीत फूलों की भीनी महक सा निखर उठता है ! उसके सौंदर्य में मृदुता है, सुरंग है, सौरभ है, सर्वोपरि मादकता भरी है। उसमें कोई रस सागर ही छलका पड़ता है ! उसे देखिए, सुनिए, अनुभव कीजिए और अपने को भूल जाइए !—

"तोलि वेन्नेल चिवुल्ल वेलिनिग्गु चिरजिम्मु
वेलवि किन्नेर पाट विरिसि पोवुट जूचि
तेलुपुलो वेन्नेला
मलुपुलो रेचान,
सिरिवेल्लि पर्वरिचेनो ! विरिपूल
नेरतावि तरमेंचेनो !"
"तलिराकु कन्न मेत्तनि यंदमुनु बोवु
तरुणि किन्नेर पाट तानमंदुट जूचि
एडवलो, आनंद
जडधिलो, लोकालु
पुलकितम्मयि पोयेनो ! रसवार्द्धि
चुलुकितम्मयि पोयेनो !"

मक्खन सी लचकदार, उसकी तानें सुन कर षट्पद मकरंद पान करना भूल जाते हैं, और झुण्ड बाँध कर उसके प्रवाह के पीछे दौड़ पड़ते हैं ! कभी अस्फुट फिर कभी स्फुट रूप से सुनाई पड़ने वाले उसके गीत श्रवण कर हरिण तृणांकुर चरना भूल जाते हैं ! सचकित दृष्टियां प्रसारित करने लगते हैं ! मंद्रस्थाई का अधिगमन कर जब वह संगीत तार (उच्च) स्थाई को प्राप्त होता है, तो तेलुगु प्रकाश की भाँति तारिका-पथ का स्पर्श कर बैठता है ! कभी हंस कुमारियों के हास की तरह, कभी सुन्दरियों की पैंजनियों के अनुरूप फिर कभी काँस्य-ध्वनि जैसा प्रवाहित होने वाले उस संगीत में बह कर समूचा जंगल ही एक मादक गीत बन जाता है !

संगीत की तरह इस कृति में प्रदर्शित भाव-सौंदर्य भी अनुपम है। यह अत्यन्त करुण-रस-प्रधान काव्य है। उस रस का बहुत ही अच्छा निर्वहण सर्वत्र हुआ है। किन्नेरा अपने पति को गलत समझ कर घर से निकल पड़ती है। नदी बन जाती है, भारी भूल करती है। उसका नतीजा यह निकलता है कि उसका पति पत्नी-वियोग न सह सकने के कारण रो रो कर पत्थर बन जाता है ! बहुत देरी से वह बिचारी अपनी गलती पहचानती है। फिर पश्चाताप शुरू होता है। पाषाणत्व को प्राप्त पति के चारों ओर वह चक्कर काटने लगती है ! अपने को कोसती है। फिर मानवी बन जाने की विफल कामना कर लेती है। अपने तरंग हस्तों से प्रियतम का आलिंगन कर लेती है। उस पर झुक कर विलाप करती है—

'प्यारे नाथ मेरे ! हाय ! मैं तुम्हारे प्रति भयंकर अपराध कर बैठी हूँ ! क्षमा करो मेरे देवता ! अपना मान छोड़ो। मुझसे बोलो। वरना तुम भी जल बन जाओ न स्वामी ! दोनों मिल कर बहेंगे। फिर कभी ऐसी भूल नहीं करूँगी प्रभु ! इस जीवन में तुम पर फिर कभी कुपित न होऊँगी। देखो न प्रियतम ! तुम्हारी किन्नेरा की कैसी दुर्दशा हुई जा रही है ! वह कितनी थक गई है, कुम्हला गई है ! उसका सारा सौंदर्य पानी हो चला है ! मगर नाथ !

मैं जानती हूँ, मेरा यह विलाप व्यर्थ है। अब तुम मुझसे न बोलोगे। किंतु इतना विश्वास रखो, स्वामी ! मैं अपनी गलती के लिए जिंदगी भर प्रायश्चित्त कर लूंगी !'

वह दीना अपने पति का टीला किसी भी तरह छोड़ना नहीं चाहती। किंतु जल की तरलता उसे परास्त कर देती है। जलदेवियाँ उसे आगे ठेल ले जाती हैं। उसकी दशा कितनी दयनीय है ! करुण है ! —

"जलदेवतलु वच्चि 'नेलत ! किन्नेरसानि'
पदमंचु पदमंचु बलवंत पेट्टंग
मरिमरी पति चुट्टु तिरिगि किन्नेरसानि
वलवला एड्चिदि, पलपला कुंदिदि ।
जलदेवतलु वच्चि बलपेट्ट पति गुट्ट
वदलगालेक या मुदित किन्नेरसानि
तल्लिवग्गर नुंडि तन मेडकु पलुपोसि
लागगा बछ्डट्टि लेगला सागिदि !"

अर्थात् जलदेवियाँ आकर आगे बढ़ने का आग्रह करने लगी तो, बिचारी किन्नेरा पति-टीले की चारों ओर पछाड़ खा खा कर, चक्कर काटती रही ! सिसक सिसक कर बिल्लाती चिल्लाती रही ! वे उसे आगे बरबस ठेल ले जाने लगी तो पगही गले में बाँध कर माँ से अलग किये जाने वाले बछड़े की तरह, छटपटाने लगी !

इसी करुण प्रसंग में एक जगह उसे अपने पिछले सुखमय दिनों का स्मरण हो जाता है। उसका दुख सहस्र गुण तीव्र हो उठता है।—गृहस्थी के दिनों जब कभी वह रूठ जाती, उसका पति मान-मोचन कराने उसके पैर दाबता था ! बारबार उसका परिरंभण कर लेता था ! नव पल्लव जैसे अपने मुलायम होठों से उसकी देह पर शत-शत चुंबन बरसाया करता था। कह दिया करता था—'प्यारी ! तेरा शरीर सौंदर्य का ढेर है !' नीले बादल जैसी अपनी बाहुओं से उसके शरीर का स्पर्श किया करता था ! मगर हाय ! अब तो वे सारी बातें, सारे खेल, न हो पायंगे !

संचारी के तौर पर 'स्मृति' का कैसा कोमल करुण व तलस्पर्शी प्रयोग हुआ है ! इसी 'स्मृति' के द्वारा उनके सुखमय प्रेमल दांपत्य जीवन का—संयोग शृंगार का—किंचित आभास मिल जाता है।

किंतु, फिर भी इसमे विप्रलंभ शृंगार के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। कथावस्तु का स्वरूप ही उसके लिए सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध होता है। विप्रलंभ के लिए वही अवकाश रहता है, जहाँ बिछुड़े हुए दो प्रेमियो के पुनर्मिलन की आशा व संभावना रहती हो। किन्नेरा तथा उसका पति दोनों का फिर से अपने मानव-रूप ग्रहण करना असंभव है। जहाँ मिलन की आशा नहीं रह जाती है, वहाँ करुण रस ही की निष्पत्ति हो सकती है। शोक भाव ही ऐसे प्रसंगों

पर स्थाई रह जाता है, 'रति' नहीं। हाँ, यह दूसरी बात है कि संचारी के रूप में उसका समावेश संभव हो। महाकवि भवभूति के उत्तर रामचरित नाटक में प्रधान रस का निर्णय करना जरा कठिन हो जाता है, क्योंकि उसमें राम और सीता के पुनर्मिलन का समावेश कराया गया है। किंतु कवि ने स्वयं 'एको रसः करुण एव' कह कर अपना मत स्पष्ट कर दिया है। लेकिन यहाँ तो वह अड़चन भी नही रह जाती है। करुणा इस काव्य की एकमात्र अधीश्वरी है। मगर एक बात यहाँ द्रष्टव्य है। कोई भी उदात्त साहित्यिक रचना विषादांत बना डालना भारतीय परंपरा से मेल नहीं खाता। समाप्ति में श्रोताओं अथवा पाठकों का हृदय-भार हल्का बनाना, एक प्रकार के संतोष अथवा सांत्वना की छाप उनके दिलों पर छोड़ना कवि का कर्तव्य हो जाता है। सनातन परपराओ के प्रतिपालक सत्यनारायण जी की दृष्टि इस ओर अवश्य रही है। यही कारण है कि उन्होंने 'गोदावरी संगम' सर्ग के अन्तिम गीत में किन्नेरा का मनस्तत्व इन शब्दों में व्यक्त किया है—

> **गोदावरी वेवि गूडि किन्नेरसानि**
> **ये दिगुलु लेक तेलिवोंदे—वल्ल**
> **सावु तरगल गुमुल चिंदे—मनसिगा**
> **नेदारिनो चच्चुटे गदा, मरियिपुडु**
> **लेदु चावो तनकुनंना अनुकुंवि**
> **लेदु चावुनु मगनि कैना !"**

यानी, गोदावरी मे मिल कर किन्नेरा अपनी सभी चिंताओं से मुक्त हो गई। उसने सोचा—मानव शरीर धारण करने पर तो किसी न किसी दिन मृत्यु का ग्रास बनना ही पड़ेगा। अब तो वह डर नही रह गया है। न तो वह मर सकती है और न शिला-रूप-धारी उसका पति ही! इस विचार से उसको संतोष ही हुआ है।

इन पंक्तियों में सफल कवि ने एक अप्रस्तुत तथ्य की ओर भी सुन्दर संकेत कर दिया है। किन्नेरा और उसके पति आदर्श एवं पवित्र दंपति-प्रेम के प्रतीक है। सच्चा दंपति-प्रेम अजर एवं अमर हुआ करता है। देश और काल उसकी गति में बाधक नही हो सकते। दोनों के प्रेम और यौवन प्रति बर्ष नव जीवन से ओत प्रोत रहेंगे। अलावा इसके इन शब्दों में कवि ने स्वयं अपनी कृति की अमरता की भी घोषणा कर दी है। किन्नेरा छोटा झरना है, उसी प्रकार यह रचना भी छोटी है। किंतु कोई भी रचना स्थायी साहित्य के अंतर्गत आ सकेगी अथवा नहीं, इसका निर्णय उसके कलेवर के माप से नही किया जा सकता। यदि वह रसात्मक है, मानव की चिरंतन समस्याओं पर प्रकाश फेंकती है, तो अवश्य देश व काल का तिरस्कार कर शाश्वत रहेगी। इस विचार से, आकार में छोटी रहने पर भी, अपनी कृति के स्थायित्व में, कवि को तिल मात्र भी शंका नही है।

अंतिम सर्ग में किन्नेरा की अनुपम शोभा का जो विशद वर्णन कवि ने किया है, वह भी

अपनी करुण रचना को विषादांत बन जाने से रोकने के उद्देश्य से। उस पावन सरिता की विभूतियाँ ऋतु ऋतु में बदलती है। इसका उल्लेख कथा प्रसंग में किया गया है। तेलुगु देवता रामय्या के मंदिर-मार्ग की रखवाली करने का भार कवि किन्नेरा पर छोड़ते हैं। इसमें भी कवि का कोई गूढ आशय निहित है। शायद वे चाहते हों कि कलजुगी मानव भगवान की देहली पर पैर रखने के पूर्व उस पुण्य-सलिला में अवगाहन कर पवित्र बन जायँ! उसे पार करते समय उनकी दृष्टियाँ उस जोड़ी के अमलिन प्रेम की ओर खिच जाय, क्षण भर के लिए सही!

उत्तम काव्य अपने विधाताओं के विचारों के कोश हुआ करते हैं। कवियों की साहित्यिक व सामाजिक मान्यताओं के प्रतिबिम्ब उनमें साफ लक्षित होते है। इस दृष्टि से इस रचना का अवलोकन करेंगे तो निम्नलिखित तथ्य मालूम हो जायंगे।

श्री सत्यनारायण शुद्ध व पूर्ण सनातनता के प्रेमी हैं; जीर्ण पुरातन व रूढ़ विचारों के विरोधी। सनातन भारतीय गरिमा एवं संस्कृति का प्रतिपादन करना ही, इनके काव्य-जीवन का प्रधान उद्देश्य है। यह विषय इनकी प्रत्येक काव्य रचना, उपन्यास, कहानी व नाटक से प्रकट होता हैं। साहित्य-जगत मे, आजकल उच्छृंखलता को प्रोत्साहन देने वाले एवं अनुशासन के लिए घातक जो नारे, अननुभवी व्यक्तियों द्वारा लगाए जा रहे है, उनसे ये बेहद चिढ़ते है। अपने असमग्र ज्ञान व अज्ञता को ढकने के लिए ही वे नौसिखुए औरों की हँसी उड़ाया करते है। ऐसों की ये जरा भी परवाह नही करते। एक जगह साफ कहते है—

लेत बुर्रलु कोक्किरिस्ते
आतगाल्लतो एमि गानी
ताल तातलनाटि कतलू
त्रव्विपोस्तानोय् ।'

यानी 'कच्ची खोपड़ियाँ यदि मेरी हँसी उड़ाती है, तो उनसे मेरा क्या जाता है? मैं तो बाप दादो के जमाने की कहानियाँ खोद निकालूंगा।'

सामयिकता की मुहर लिए हुए वर्गवादी रचनाओं को ये कवि साहित्य के अंतर्गत स्थान नही देते है। मानव जीवन की शाश्वत समस्याओं का, चिरप्रसंगों का विश्लेषण करने वाली चीजे ही, उसके लिए उपादेय चिर-तत्व ही स्थायी साहित्य के विषय रहेंगे। शील, चरित्र, प्रेम, सुख, दुख, धर्म आदि विषय सभी युगों के, सभी देशों के, तथा सभी श्रेणियों के लोगों के लिए समान रहते है। मानव अमर नही हो सकता है। अतः उसकी पार्थिव समस्यायें भी काल का अधिगमन नही कर पाती है। फिर संसार के एक प्रदेश की समस्यायें ही दूसरी जगहों मे नही पायी जाती। समय तथा भौगोलिक कारणों से उनमें बेमेल का स्वर काफी सुनाई पड़ता है। तब ऐसे विषयों पर लिखी जाने वाली चीजो की जिंदगी ही कै दिन की हो सकती है? इस वास्तविकता से आँख मूंद कर चलने वाले, भले ही अपने समय के लोगों की वाहवाही पा जावें, 'लोकानां कवि' बन सकें, किंतु "कवीनां कवि" कदापि नही बन पायगे। इस तत्व में पूर्ण विश्वास

रख कर चलने के कारण सत्यनारायण जी की रचनाओं का अधिकांश सत्साहित्य कहला सकता है। साहित्य को स्थायित्व प्रदान करने के साथ साथ एक और बात भी ये ध्यान में रखते हैं। वह है साहित्य को यथासंभव दैवपरक बनाना। 'किन्नेरसानिपाटलु' का भी एक आशय यह है। किन्नेरा निदान 'श्री रामय्या' के मंदिर-मार्ग में ही विश्राम पाती है। एक तीसरी बात भी इस पुस्तक से जाहिर होती है कि किसी भी रचना में, जब तक पूर्ण रूपेण रस का परिपाक-- निष्पत्ति—नहीं बन पड़ता हो—चाहे कलेवर मे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो—वह काव्यत्व को प्राप्त नही हो सकती। इस प्रकार मानव जीवन के नित्य तत्वों का प्रतिपादन, नैतिकता, धर्मोद्धार, रसात्मकता आदि विषयों का निर्वहण. ये ही इन महाकवि की साहित्यिक मान्यतायें हैं। ऊबड़ खाबड़ जमीन में उछल-कूद करती हुई प्रवाहित होने वाली 'किन्नेरा' जीवन के एक शाश्वत तत्व का प्रतीक है। धीर, गंभीर एवं विशाल गोदावरी, अपूर्व रहस्यों को लिए हुए, जीवन की गहनता का ढिंढोरा पीटती है और सब को अपने में विलीन कर के भी प्रशात रहने वाला अथाह सागर, रहस्यमय अनतता एव सृष्टि की अपरिमेयता का परिचायक है। व्यक्तिगत समस्याओ का जीवन की सामूहिक समस्याओं में समाहार और सब का विश्व-जीवन यानी अनंतता मे सगम, यही इस रचना की सर्वोत्तम शिक्षा है।

समस्त मर्यादाओ की रक्षा तथा लोकसंग्रह भाव का प्रतिपादन श्री सत्यनारायण के काव्य-जीवन का सामाजिक पहलू है। मानव के लिए व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में साफल्य प्राप्त करने के लिए अनुशासन का, कुछ मर्यादाओं का, पालन करना आवश्यक होता है। भारतीय पारिवारिक जीवन मे माँ बाप की बात सर्वोपरि मानी जाती है। परिवार के अन्य प्राणी अपने वैयक्तिक सुख-दुख की उपेक्षा कर बडे बुजुर्गो का अनुगमन करते हैं। उस पारिवारिक शांति की सुरक्षा के लिए जरूरत पड़ने पर अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर देना उचित समझते हैं। किन्नेरा के पति का चरित्र इसका परमोज्वल प्रमाण है। उसने व्यक्तिगत प्रेम और दापत्य सुख का होम कर दिया था कौटुम्बिक व्यवस्था की रक्षा के लिए !

भाई तथा बहिन के बीच पवित्रता एव स्नेह का संबंध रहना एक आवश्यक मर्यादा है। पुरुष चाहे जितना ही लंपट हो, अपनी भगिनी के साथ सर्वथा भद्र एवं पवित्र आचरण ही करता है। उसका उल्लंघन करने के पूर्व उसकी गर्दन पर से सर-अलग हो कर ही रहेगा। इस महान मर्यादा की रक्षा समुद्र के चरित्र द्वारा हो गई है। सागर में चाहे जितने भी जोरों का ज्वार उठ आवे, वह अपनी वेला (उप-कूल) पार कर आगे नही बढ़ता ! तेलुगु भाषा में इस उपकूल को 'चेलियलिकट्टा' याने 'भगिनी-तट' कहा जाता है। किन्नेरा का सतीत्व हरने के लिए समुद्र गगन-पर्यंत उमड़ उठा, किंतु बाद को जैसे उठा वैसे ही बैठ गया ! 'भगिनी-तट' पार कर किन्नेरा से नहीं मिला। यदि वह चाहता तो वह काम उसके लिए कठिन न होता। किंतु, यदि सागर ही अपनी अनुजा का स्पर्श करे, तो प्रलय ही हो जाय। सामाजिक व्यवस्था चूर-चूर हो जाती ! समुद्र का ज्वार, फिर भाटा देख कर, भयभीत लोग यही विचार कर समाधान कर लेते हैं—

कडलि पोंगिनदंते कानी,
कडलि उबिकिनदंते कानी,
कडलि ता चेलियलीकट्टु दाटुनेयंचु !
कडलि मात्रमु बद्दे गडचि पोवुने यंचु !
कडगि यन्तुकोनिरी
बुदुत मानिसुलू ।"

अर्थात् 'समुद्र में केवल ज्वार आया है। वह तो सिर्फ उमड़ उठा है। बस, भला क्या सागर भी कभी अपने भगिनी-तट का स्पर्श करेगा? कभी अपनी मर्यादा लंघ जायगा? (हरगिज नहीं)।'

इस छोटी गेय-कृति में अंकुरित होने वाला यह पवित्र भाव, बाद को इन्हीं के लिखे 'चेलियलिकट्टु' नामक अद्भुत उपन्यास में पल्लवित एवं पुष्पित हो उठा है।

जब सागर जैसे बहु-पत्नी-वल्लभ के चरित्र में ही मर्यादाओं के प्रति गौरव-दृष्टि का प्रतिपादन संभव हो गया, तब समस्त गुण-रत्नों की राशि, महान् भारतीय धर्म की प्रतीक-स्वरूपा, तपः पूत गौतम की आत्मजा गोदावरी के चरित्र में उसका समावेश कैसे नहीं हो पाता? हम पहले ही कह आये हैं कि वह समस्त मर्यादाओं की सीव है! भागीरथी तक की अग्रजा! उसे अत्यन्त सावधानी से धर्म का परित्राण करना पड़ता है। धर्म के प्रतिपालक समझे जाने वाले शासकों तक की बुद्धि जब भ्रष्ट हो जाती है, तब उनको ठीक कर देने का महान कार्य ऐसी ही माताओं के बूते की बात रह जाती है। अपने कर्त्तव्यपालन में गोदावरी पूर्ण तत्परता दर्शाती है। सोलहों आना सफल हो जाती है। किन्नेरा को आश्रय दे कर, एक दूसरी नारी के सतीत्व की रक्षा अपने ही पति के चंगुल से कर के, समस्त नारी लोक के आगे अमर आदर्श प्रस्तुत करती है। भारतीय नारीत्व का ढिंढोरा पीटती है! यह तो हुई बड़ी प्रौढ़ा स्त्रियों की बात। फिर युवतियाँ कैसी रहे? उनका क्या रूप हो? इन प्रश्नों के जवाब ही से तो समूचा काव्य भरा पड़ा है। नायिका किन्नेरा ही वह मूर्त एवं जंगम आदर्श है! लाख बाधाओं का अधिगमन करना पड़े, सच्ची भारतीय रमणी परपुरुष का मुँह देखना तक पसंद नहीं करती है, चाहे वह समस्त विश्व का अधिपति ही क्यों न हो! उसके पति ही के शब्दों में वह (किन्नेरा) 'भागीरथी' है, समस्त किल्विष-विध्वंसिनी! उसके पूत चरित्र के स्मरण मात्र से ताप-त्रय दूर हो जाते हैं। जब वह सरिता बन कर आगे बढ़ने लगी तो उसका पति विलाप करता है—

'मुन्नु भगीरथ भूपति वेन्नुवेंट परुगेत्तिन
अन्नाकधुनी वैखरि नुन्नदि नीचन्न त्रोव !

'हे प्रियतमे! प्राचीन समय में राजा भगीरथी के पीछे चलने वाली उस नाक-धुनी का सा है, तुम्हारा मार्ग!' यहाँ पर 'नाक-धुनी' शब्द के प्रयोग से औचित्य की रक्षा हो गई है। उससे पवित्रता एवं सकल पाप-संहारक गुण ध्वनित होते हैं। गोदावरी से छोटी होने से किन्नेरा की

तुलना भागीरथी के साथ कर देना सर्वथा उचित है। यही भारत की नव-युवतियों के लिए आचरण योग्य और अभिलषणीय आदर्श है। किन्नेरा का चरित्र मर्यादाओं की भी मर्यादा है! उसका दान अमृतमय है! वह भगवान की सदा समीपवर्त्तिनी है! एक ओर उन मर्यादा पुरुषोत्तम भद्राचल रामय्या से प्रेरणा पाती है और दूसरी ओर अपने शीतल मीठे जल व शीतल छाया के रूप में, समस्त तेलुगु समाज मे, उसका वितरण किया करती है। जानकी-पति और जनता के बीच सुंदर समाधान बनती है, पुण्य और पाप के बीच सुरुचिपूर्ण सेतु! उसकी यह परोपकार-भावना उसके भव्य चरित्र के अनुरूप ही है।

तेलुगु साहित्य मे बाह्य (जड़) प्रकृति का समावेश अधिकतर भावपक्ष में न रह कर विभाव पक्ष के अंतर्गत ही किया गया है। बहुत कम कवियों ने प्रकृति का दर्शन उसकी संपूर्ण कलाओं के साथ किया है। काव्य-गत विषय के अंग के रूप में ही उसका अध्ययन किया है। उद्दिष्ट भाव तथा रस के लिए आलंबन के रूप में ही उसका प्रयोग होता आया है। शायद उन्होंने उसके अलग अस्तित्व मे विश्वास नही किया हो। प्रकृति को आलंबन के रूप में काव्य का प्रधान विषय वही कवि बना सकता है, जो उसका निकट से निकट अध्ययन, परिशीलन किया करता है; उसमें अपनी आत्मा उँडेल कर, उसके साथ शुद्ध रागात्मक संबध जोड़ बैठता है। तभी उसकी कलम की नोक पर उसका (प्रकृति का) सजीव चित्र उतर सकता है। अमर कवि वाल्मीकि व कालिदास की आत्माओ ने उसके साथ वैसा तादात्म्य स्थापित कर लिया था। उसी के सुस्वादुफल रामायण के प्रकृति-वर्णन तथा मेघदूत की अमर पंक्तियाँ है। हमारे सत्यनारायण का प्रकृति के प्रति कैसा दृष्टिकोण रहा है, उसका अनोखा प्रमाण ही 'किन्नेरसानि पाटलु' है। इस अपूर्व कृति-रत्न का जन्म ही प्रकृति की वैभवशाली खान से हुआ है। प्रकृति के साथ उनकी आत्मा का कैसा अभिन्न सम्बन्ध जुडा है, उसकी घोषणा पुस्तक की पंक्ति-पंक्ति कर देती है। महाकवि कालिदास ने यदि नदी को नारी के रूप मे देखा तो श्री सत्य-नारायण के अंतर्जगत का स्पर्श पा कर नारी ही रसाकृति नदी बन गई! उसकी बिंदु-बिंदु के पीछे कवि हो लिए! प्रत्येक पद-चिन्ह एवं नाट्य-मुद्रा की 'फोटो' ली है! चलते समय पायलों के 'रुम झुम' तथा नाचते समय नूपुरो के 'छमाछम' का शब्द-ग्रहण कर लिया! वह सारी सामग्री सहृदय जनो के सम्मुख रखी है! अपनी अनुपम सृष्टि पर आप ही रीझ उठे है!

सत्कवियों की दृष्टि प्रांतीयता तथा राष्ट्रीयता के परिमित दायरों में आबद्ध नहीं रहती है। उनकी सृजनात्मक-कल्पना क्षेत्र के भीतर प्रवेश कर, प्रत्येक वस्तु एक निराला तथा विश्व जनीन-रूप धारण कर लेती है। श्री सत्यनरायण एक सत्कवि हैं। किंतु उनकी रचनाओं में तेलुगु सभ्यता, भाषा, कविता आदि के प्रति अधिक मात्रा में आसक्ति व अधिमानता विद्यमान है। और रचनाओं की अपेक्षा प्रांतीयता का यह अभियान 'किन्नेरसानि पाटलु' मे ज्यादा पाया जाता है, जो कि कुछ लोगों को खटकेगा ही। किंतु स्मरण रहे यह प्रांतीयता का मोह, अपनी भाषा के प्रति उत्कट प्रेम, राजनैतिक प्रातीयता की तरह राष्ट्रीयता के मार्ग में रोड़े अटकाने वाले कदापि नहीं हो सकते। प्रत्युत् उसमे नूतन प्राणरस ढालने वाले, उसकी असमग्रताओं की पूर्ति करने वाले

संजीवनी रसायन है ! किन्नेरा चाल ढाल में, साज श्रृंगार में सोलहों आना तेलुगु बाला है। तेलुगु भाषा की माधुरी उसकी गति में, नृत्य में फूट पड़ती है। तेलुगु जनता का भोलापन उसके अंग अंग से टपका पड़ता है ! इतना तेलुगुपन लिए रहने पर भी उसके सम्मुख 'नाक-धुनी' बनने का, केवल 'आंध्री' न रह कर 'भारती' बन जाने का चरम लक्ष्य अवश्य है। अतः यह अभिमान भी भव्य है।—अद्वैत तत्व की सिद्धि के लिए द्वैत सिद्धात की भाँति उपादेय एवं उज्जीवक !

अब इन कवि-सम्राट् की भाषा के बारे में भी एक दो शब्द कह कर यह लेख समाप्त करेंगे। हमने पहले कहा है कि इस कृति मे तेलुगुपन अधिक पाया जाता है। कवि ने तेलुगु शब्दों की अद्भुत शक्ति व मिठास का परिचय इस में दिया है। वैसे तो सत्यनारायण जी की भाषा सहज ही संस्कृत-निष्ठ रहती है, ८० प्रतिशत संस्कृत समासो से भरपूर। किंतु 'किन्नेर-सानि पाटलु' मे तो उन्होंने अपने स्वभाव के विरुद्ध ८० संस्कृत शब्द आने नही दिये है ! भाषा का स्वरूप भी व्याकरण-बद्ध न रख कर, व्यावहारिक एव बोलचाल का बनाया गया है। इसमें प्रयुक्त गीति-रचना भी स्वतत्र है। तेलुगु वातावरण तथा तेलुगुपन की सृष्टि करने मे ठेठ तेलुगु शब्द ही कितने अनुकूल पड़ते है, यह विषय 'किन्नेर नडकलु' (किन्नेरा की गतिविधि) तथा 'किन्नेर नृत्य' आदि अशो को पढ़ने से मालूम होता है। भावानुधावी भाषा का व्यवहार सर्वत्र पाया जाता है। ठेठ देशी मुहाविरो तथा कहावतो के प्रयोग ने काव्य को एक नया ही सौदर्य प्रदान किया है। इतना होते हुए भी सस्कृत समासों के प्रति इनका सहज मोह एक दो जगह उमड बहा है। संगीत के लिए तेलुग शब्दों की अनुकूलता प्रकट करने वाले एक दो उदाहरण लीजिये। यहाँ इनका भावार्थ नही दिया जायगा, केवल शब्द-सौदर्य पर ही पाठक ध्यान देंगे।

सती किन्नेरा का गल कर नदी-रूप धारण करने के प्रसग मे से :—

> करिगिदि करिगिदि,
> करिगिदि करिगिदि,
> करिगि किन्नेरसानि वरदलै पारिदि
> तरुणि किन्नेरसानि तरकल्लु कट्टिदि
> पडति किन्नेरसानि परुगुल्लु पेट्टिदि ।
> जलजला पोंगिदि
> बिल बिला नर्तिंचिदि
> "परिकिणी तोक्काडु पदियेंड्ल कन्नेला
> चिन्निगंतुलु वेयु तेल्लनाबेय्यला,
> पसिपाप सेलविवारिन बोसि नव्वुला !"

किन्नेरा के नृत्य का सौंदर्य.—

> "केरटाललो-नुर्वु
> तेर चालुलो-नीटि

पोर आलुलो-किन्ने—
रट्टुपोरलि-यिट्टु पोरलि
चिटि तरंगालतो—पोटि तरंगालतो
नटनालु मोवलेट्टेने !—कोन्नोटि
तुट्टुमुला कवलाडेने !

× × ×

जिगि बेव्वकुला—धगा
धग तव्वकुला-जगा
जगि कुल्कुला-किन्ने
रट्टु नव्वि-यिट्टु नव्वि,
अलल पेन्नुरुसुतो—सेलल पेन्नुरुसुतो
तेलुगु वोवगुलु वोयेन !—किन्नेरा
तेलुगु तीपुलु चिम्मेने !

× × ×

घण धंगिणाम-दधों
गिण तक्किणाम्-मद्दे
लल स्रोतलै-किन्ने
रट्टु स्रोगि-यिट्टु स्रोगि
चिरु वेल्गु सोनलै-सिरुलोल्कु सोनलै
मृवु ताण्डवमु जेसेने !—वनवीथि
पवुवु पायलु कट्टेने !"

श्री सत्यनारायण का इन गीतों को स्वयं गा कर सुनाने का ढंग भी बड़ा मोहक रहता है। जिस किसी भी सभा में वे पहुँच जाते हैं, श्रोता लोग सहज ही उन्हें नहीं छोड़ते। 'किन्नेरसानि' के एक दो गीत उन्हें अवश्य सुनाने ही पडते है। भगवान ने उन्हें मधुर कंठ दे कर सोने में सुहागा भर दिया है। इस प्रकार इन महाकवि की यह छोटी रचना सभी दृष्टियों से उत्तम कोटि का काव्य है। आज वह तेलुगु साहित्य-जगत के प्रत्येक प्राणी का कंठहार बना हुआ है :—

जयंति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वरः

श्री जयराम मिश्र, एम. ए. एम. एड., साहित्यरत्न

श्री गुरुग्रंथ साहिब के धार्मिक सिद्धान्त

[गतांक से आगे]

मन

भारतीय धार्मिक ग्रन्थो में मन के ऊपर बहुत कुछ कहा गया है। मन का स्वरूप संकल्प और विकल्प करने वाला निरूपित किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में भृगुवल्ली के द्वितीय अनुवाक से लेकर षष्ठ अनुवाक तक, अन्न ब्रह्म, प्राण ब्रह्म, मन ब्रह्म, विज्ञान ब्रह्म, और आनन्द ब्रह्म का कथन किया गया है। इन्हीं के आधार पर वेदान्त-ग्रन्थो मे अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश की कल्पना की गयी। वास्तव में मनोमय कोश सबसे व्यापक, दृढ़ और बन्धन का हेतु है। योगवाशिष्ठ में "मन एव मनुष्याणाम् कारणं बन्धमोक्षयोः।" कह कर मन की प्रबलता की ओर संकेत है। कठोपनिषद् मे भी मन की प्रबलता की विवेचना की गई है।

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।"

इसका तात्पर्य यह कि उस आत्मा को—कर्मफल भोगनेवाले संसारी को रथी—रथ का स्वामी—जान और शरीर को तो रथ ही समझ, क्योकि शरीर, रथ में बँधे हुए अश्व रूप इन्द्रियगण से खींचा जाता है। निश्चय करना जिसका लक्षण है, उस बुद्धि को सारथी जान, क्योंकि सारथि रूप नेता ही जिसमें प्रधान है उस रथ के समान शरीर बुद्धि रूप नेता की प्रधानता वाला है, क्योकि देह के सभी कार्य प्रायः बुद्धि के ही कर्तव्य है। संकल्प विकल्पादि रूप मन को प्रग्रह (लगाम) समझ, क्योंकि जिस प्रकार घोड़े लगाम से नियन्त्रित होकर चलते हैं, उसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियां मन से नियन्त्रित होकर ही अपने अपने विषयों मे प्रवृत्त होती हैं।

इसी भाँति श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में मन के स्वरूप का चित्रण अर्जुन के मुख से ३४ वें श्लोक में अत्यत सुन्दर ढग से कराया गया है। अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण से कहते हैं—

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।"

"क्योंकि हे कृष्ण, यह मन बड़ा चंचल और प्रम न स्वभाववाला है, तथा बड़ा दृढ़ और बलवान है, अतएव उसका वश में करना मैं वायु की भांति अति दुष्कर मानता हूँ।"

किंतु उसके साथ ही भगवान् श्रीकृष्ण ने मन को अत्यंत दुर्निग्रह और चंचल समझते हुए भी, उसे वश में करने के उपाय भी बताये हैं:—

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।"

"हे महाबाहो (अर्जुन), निस्संदेह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है। परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, अभ्यास अर्थात् स्थिति के लिए बारम्बार यत्न करने से और वैराग्य से वश में होता है। इसलिए इसे अवश्य वश में करना चाहिए।"

भक्तिकाल के सभी प्रसिद्ध कवियों ने मन को डाटने-फटकारने तथा फुसलाने और पुचकारने की चेष्टा की है। कबीर, दादू, तुलसीदास तथा सूरदास सभी में यह प्रवृत्ति अच्छी मात्रा में पाई जाती है। नानक देव भला इस प्रभाव से अछूते कैसे रहते? उनकी परम्परा और मर्यादा का अनुसरण अन्य गुरुओं ने भी किया। श्री गुरुग्रन्थ साहब में मन के ऊपर अनेक पद पाये जाते हैं, जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि सिक्ख-गुरुओं ने मन की प्रबलता को भली भाँति समझा था।

अब हम सिक्ख गुरुओं के अनुसार वर्णित मन पर विचार करेंगे। आदि गुरु नानक देव ने मन की उत्पत्ति पंच तत्वों—आकाश, पवन, अग्नि, जल तथा पृथ्वी—से मानी है। इसकी उपमा शाक्तों से दी गई है। यह बड़ा ही लोभी और मूढ़ है।

इहु मन करमा इहु मन धरमा।
इहु मनु पंच ततु ते जनमा॥
साकत लोभी इहु मनु मूड़ा। ३॥८
(रागु आसा महला १ असटपदीआ घरु २)

इस मन के दो रूप हैं—एक तो इसका स्वरूप ज्योतिर्मय (प्रकाशमय अथवा शुद्ध स्वरूप) है, और दूसरा है माया से आच्छादित अहंकार स्वरूप। ज्योति स्वरूप वाले मन से ही अपना मूल-स्वरूप पहचाना जाता है। उसी मन से पति (परमात्मा) जाना जाता है, और जीवन-मरण का वास्तविक रहस्य ज्ञात होता है। गुरु की कृपा से एक परमात्मा का बोध होता है, और द्वैतभाव का नाश हो जाता है। इसी विशुद्ध मन से अहंकारी मन में शांति उत्पन्न होती है, और आनन्द की बधाई बजने लगती है, और पुरुष मान्य हो जाता है।

मन तूं ज्योति सरूपु है आपणा मूल पछाणु।
मन हरि जी तेरै नालि है गुरमती रंगु माणु॥
मूल पछाणहि तां सहु जाणहि मरण जीवण की सोझी होई।
गुरपरसादी एको जाणहि तां दूजा भाउ न होई॥

मनि सांति आई वजी वधाई तां होआ परवाणु।
इहु कहै नानक मन तूं जोति सरूपु है आपण मूल पछाणु ॥५॥
(॥२॥७॥५॥२॥७॥)
(आसा महला ३ छंत घरु ३)

मन का दूसरा स्वरूप मोहिनी माया से मोहित, अहंकार से भरा हुआ है। इससे बार बार अनेक योनियों मे भ्रमता फिरता है। अंत में ऐसे मूर्ख मन को पछताना पड़ता है। यह मन, अहंकार और तृष्णा के भयानक रोग मे फँसकर (मनुष्य के अमूल्य) जन्म को व्यर्थ ही नष्ट कर देता है।

मन तूं गारबि अटिआ गारबि लदिआ जाहि।
माइआ मोहणी मोहिआ फिरि फिरि जूनी भवाहि॥
गारबि लागा जाहि मुगध मन अंति गइआ पछुतावहे।
अहंकार तिसना रोगु लगा बिरथा जनमु गवावहे॥
मनमुख मुगध चेतहि नाहि अगै गइआ पछुतावहे।
इउ कहै नानकु मन तूं गारबि अटिआ गारबि लदिआ जावहे॥६॥
(२॥७॥५॥२॥७॥)
(आसा महला ३ छंत घरु ३)

मायासक्त अथवा विषयासक्त मन अत्यंत प्रबल है। अनेक उपाय करने पर भी यह अपने स्वभाव को नही त्यागता। यह द्वैतभाव से अनेक दुःखों को लाता है और जीव को अनेक कष्ट देता है।

इहु मनूआ अति सबल है छड़े न कितै उपाइ।
दूजै भाइ दुखु लाइदा बहुती देइ सजाइ॥४॥१८॥५१॥
(सिरी रागु महला ३)

यह मन अत्यंत चंचल है। क्षण भर के लिए भी नही टिकता। यह बहुरंगी है और दशों दिशाओं में घूम घूम कर टक्कर मारता फिरता है। कभी आकाश में भ्रमण करता है, कभी पाताल की सैर करता है—

इहु मनूआ खिनु न टिकै बहु रंगी दह दह दिसि चलि चलि हाढे॥१॥
७॥२१॥५९॥
(रागु गउड़ी पूरबी महला ४)

"इहु मनूआ खिनु ऊभ पइआली भरमदा।...५॥२॥९॥
(रागु आसा छंत महला ४ घरु १)

यह मन, हाथी, शावत और अत्यंत दीवाना है। माया के वनखंड में मोहित होकर, हैरान होकर फिरता रहता है और काल के द्वारा इधर उधर प्रेरित किया जाता रहता है।

मनु मैगलु साकतु देवाना।
बनखंडि माइआ मोहि हैराना॥
इत उत जाहि काल के चापे। ॥१॥८॥

(रागु आसा महला १ असट पदीआ घरु २)

मन अत्यंत दुर्निग्रह है; इसका वश में करना बड़ा ही कठिन है। इसका स्वभाव चंचल है, तृष्णा के साथ लिप्त रहता है, इससे यह स्थिर नहीं रह पाता। इसी के संपर्क से भयानक क्रोध शरीर में निवास करता है, जिससे सब सुधि भूल जाती है। इसी ने ज्ञान रूपी रत्न को अपहृत कर लिया है, इससे कुछ वश नही चलता। योगियों ने इसे वश में करने के लिए अनेक यत्न किये, और हार गये, पर वह वश में न हुआ। अनेक गुणियों ने नाना प्रकार के गुणों का गान किया पर यह वशीभूत न हुआ।

साधो इहु मन गहिओ न जाई।
चंचल तृसना संगि बसत है या ते थिरु न रहाई॥रहाउ॥
कठिन क्रोध घट ही के भीतरि जिह सुधि सब बिसराई॥
रतनु गिआनु सब को हिरि लीना ता सिउ कछु न बसाई।
जोगी जतन करत सभि हारे गुनी रहे गुन गाई॥२॥४॥

(रागु गउड़ी महला ९)

मन अत्यत भोग भोगने पर भी तृप्त नही होता। अनेक भाँति माया के रंगों को देखकर भी, यह शान्त नही होता। महर, मलूक और खान होकर अनेक भोग भोगता है, किन्तु फिर भी तृप्त नही होता। हे संत, हमें उस सुख का मार्ग बताओ, जिससे तृष्णा बुझ जाय और मन तृप्त हो जाय। यद्यपि मन ने वायु के समान तीव्रगामी घोड़ों और हाथियों की सवारी की, चोआ चंदन को लगाया, सेज पर सुन्दरियो के साथ रमण किया, नाट्यशाला की रगस्थली मे नटो के गानों को सुना, फिर भी इसे संतोष नही प्राप्त हुआ। यह मन सभा में गलीचो से सजे हुए तख्त पर बैठा, इसने सुन्दर उद्यानो से सभी प्रकार से मेवो का रसास्वादन किया, आखेट में रुचि दिखलाई, तथा अन्य राजाओं की लीलाएं, अनेक प्रपंचों और उद्यमों मे प्रवृत्त हुआ फिर भी उसे सुख नही प्राप्त हुआ।

बहु रंग माइआ बहु बिधि पेखी।
कलम कागद सिआनप लेखी॥
महर मलूक होइ देखिआ खान।
ता ते नाहीं मनु तृपतान॥१॥
सो सुख मो कउ संत बतावहु।
तृसना बूझै मन तृपतावहु॥१॥ रहाउ॥
असु पवन हसति असवारी।
चोआ चंदनु सेज सुंदरि नारी॥

नट नाटिक आखारे गाइआ।
ता महि मनि संतोखु न पाइआ ॥२॥
तखतु सभा मंडप दोलीचे।
सगल मेवे सुंदर बागीचे ॥
आखेड़ बिरति राजन की लीला।
मनु न सुहेला परपंचु हीला ॥३॥१२॥८१॥
(गउड़ी गुआरेरी महला ५)

मन लोभ के वशीभूत, धन की आशा में दशो दिशाओं में दौड़ता है। सुख की प्राप्ति के हेतु सासारिक पुरुषो की सेवा करता है फिर भी सुख नही प्राप्त होता, उन्हे दुःख ही प्राप्त होता है। यह सुख की आशा में श्वानवृत्ति धारण कर द्वार द्वार भटकता फिरता है, इसे राम भजन का तनिक भी स्मरण नही रहता। इस प्रकार यह परम अमूल्य मनुष्य जीवन व्यर्थ ही नष्ट कर डालता है। लोगों के हँसने की भी लज्जा नही लगती।

बिरथा कहउ कउन सिउ मन की।
लोभि ग्रसिओ दसहू दिस धावत आसा लागिओ धन की ॥रहाउ॥
सुख कै हेति बहुतु दुखु पावत सेव करत जन जन की।
दुआरहि दुआरि सुआन जिउ डोलत नह सुधि राम भजन की ॥१॥
मानस जनमु अकारथु खोवत लाज न लोक हसन की ॥
॥२॥१॥२३३॥
(रागु आसा महला ९)

इस प्रकार गुरुओं ने मन की चचलता और दुर्निग्रहशीलता का विस्तार के साथ विवेचन किया है। जितनी प्रपचात्मक वस्तुओं मे सत्य की कल्पना होती है, वह मन ही के कारण है। यह अत्यन्त प्रबल है। बिना इसके मारे आध्यात्मिक पथ मे तनिक भी उन्नति नही होती। मन काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार तथा खोटी बुद्धि और द्वैतभाव के वशीभूत है। अतएव जब तक इनके वशीभूत है, तब तक परमात्मा की ओर जीव बढ ही नही सकता।

मनु वसि दूता दुरमति दोइ।
ना मनु मरै न कारज होइ ॥

किन्तु ऐसा प्रबल मन हठ से नहीं छूटता। इस सिद्धान्त को यदि आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर कसें तो गुरुओं का कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्धान्त बतलाया है कि प्राकृतिक प्रवृत्तियों को दबा कर वशीभूत नही किया जा सकता। इनका उर्ध्वगमन करना ही उनके दमन का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। श्रीमद्भगवत्गीता मे भी मन को 'अभ्यास' और 'वैराग्य' से शनैः शनैः वश मे करने के लिए कहा गया है। तीसरे गुरु ने भी स्पष्ट कहा है

मन हठि कितै उपाइ न छूटीऐ सिमृति सासत्र सोधहु जाइ ॥६॥२॥१९॥
(सिरी रागु महला ३ घरु १ असटपदी अंग)

अतएव सर्व प्रथम गुरु लोगों ने मन को समझाने के लिये उसके वास्तविक स्वरूप को समझाने की चेष्टा की है। पाँचवें गुरु ने स्पष्ट कहा है कि इस मन रूपी महल में शरीर की दीवाल बनाई गई है। इसी मन रूपी महल में अपार वस्तु (परमात्म-तत्त्व) रखी हुई है। इसी के भीतर सच्चे 'साहु' का निवास-स्थान सुना जाता है।

मनु मंदरु, तनु साजी बारि।
इस ही मधे बसुत अपार॥
इसही भीतर सुनीअत साहु ॥१॥१६॥८५
(गउड़ी गुआरेरी महला ५)

पाँचवें ही गुरु ने मन को 'अगम रूप' का निवास स्थान बतलाया है। इसी में अमृत-कुण्ड का निवास है। जिसे प्राप्ति होती है, वही इसके सुख को समझ सकता है। यह मन 'अनहत वाणी' का 'निराला थान' है। इसकी ध्वनि 'गोपाल' को मोहने वाली है। वहाँ 'सहज' के 'अनन्त' 'अखारों' की जमघट है, जिसमें परब्रह्म के संगी-साथी विहार कर रहे हैं। वहाँ अनन्त हर्ष है, और शोक का नाम भी नहीं है। उसी वास्तविक घर को गुरु ने नानक (पाँचवें गुरु) को दिया।

अगम रूप का मन महि थाना।
गुरु प्रसादि किनै विरलै जाना॥१॥
सहज कथा के अमृत कुंटा।
जिसहि परापति तिसु लै भुंचा॥१॥ रहाउ॥
अनहत बाणी थानु निराला।
ताकी धुनि मोहे गोपाला ॥२॥
तह सहज अखारे अनेक अनंता।
पारब्रह्म के संगी संता ॥३॥
हरख अनंत सोग नही बीआ।
सो घरु गुरि नानक कउ दीआ ॥४॥३५॥१०४॥
(गउड़ी महला ५)

मन के इस 'सात्विक रूप' को बताकर गुरुओं ने उसे समझाने की अनेक विधियाँ भी बताई हैं। ये विधियाँ बहुत सी हैं और श्री गुरु ग्रंथ साहिब में स्थान स्थान पर बिखरी पड़ी हैं।

आदि गुरु श्री नानक देव जी पहले यह प्रश्न करते हैं, "क्या यह विदित है कि मनुष्य कहाँ से आता है? कहाँ से उसकी उत्पत्ति होती है और कहाँ वह फिर लीन हो जाता है?

किस प्रकार वह बाँधा जाता है, और किस प्रकार मुक्त होता है ? किस प्रकार वह, अविनाशी सहजावस्था में लीन होता है ?"

जातो जाइ कहा ते आवै।
कह उपजै कह जाइ समावै॥
किउ बाधिओ किउ मुकती पावै।
किउ अबिनासी सहजि समावै ॥१॥६॥

(रागु गउड़ी महला १)

इसका उत्तर भी वे ही आगे की पंक्तियों मे देते है। "सहजावस्था से जीव आता है, और अंत में सहजावस्था मे ही जा कर मिल जाता है। **मन से ही उसकी उत्पत्ति होती है, और अंत में मन में ही समा जाता ह**। गुरुमुख ही मुक्त है, वही बधन में नहीं आता। गुरु के शब्द पर मनन करके और परमात्मा के नाम से वह मुक्त हो जाता है।"

सहजे आवै सहजे जाइ।
मन ते उपजै मन माहि समाइ॥
गुरमुखि मुकतो बंध न पाइ।
सबदु बीचारि छुटै हरिनाइ ॥२॥६॥

(रागु गउड़ी महला १)

उपर्युक्त विवेचन में एक बात बहुत आवश्यक है—मन ही सृष्टि का कारण है, और मन ही स्वरूप में स्थित होने का कारण भी। जब तक मन वास्तविक स्वरूप को छोड़ कर शब्द स्पर्श, रूप, रस, गध, के विषयों मे दौड़ता रहता है, तब तक वह बंधन का हेतु है। किन्तु जब वह इन इन्द्रियो के विषयो को त्याग कर अतर्मुख होता है, तभी वह ससीम से असीम हो जाता है, और परम पद को प्राप्त करता है। यहाँ हमें कठोपनिषद् के द्वितीय अध्याय की प्रथमा वल्ली की प्रथम श्रुति उपर्युक्त विचारों की याद दिलाती है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू—
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष—
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥१॥

तात्पर्य यह कि स्वयम्भू (परमात्मा) ने इन्द्रियो को वहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। इसी से जीव बाह्य विषयो को देखता है; अन्तरात्मा को नही। जिसने अमरत्व की इच्छा करके अपनी इन्द्रियों को रोक लिया है, ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है।

आदि गुरु नानक देव ने कई स्थानों पर स्पष्ट कहा है कि मन से मन जाना जाता है, और मन से ही मन ग्रहण किया जाता है।

जनमु जीति, मरणि मनु मानिआ आपि मुआ मन मन ते जानिआ।
नजरि भई घरु घर ते जानिआ ॥२॥८॥

(रागु गउड़ी महला १)

अगम अगोचर अनाथु अजोनी गुरमति एको जानिआ।
सुभर भरे नाही चितु डोलै मन ही मनु मानिआ ॥७॥२॥

(रागु सारग असटपदीआ महला १ घरु १)

गुरुओं ने मन को समझाने के लिये वैराग्य-भावना का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि माया के सारे लालच मिथ्या हैं, नाशमान हैं। इस संसार में न किसी का कोई तन, न किसी का कोई धन और सम्पत्ति है। सारे दृश्यमान पदार्थ उसी भाँति नश्वर हैं, जैसे बादल की छाया। अतः विषयों में लिप्त होना व्यर्थ है। उन्होंने मन को मूर्ख, गँवार और अंधा कह कर, नाना भाँति से उसकी भर्त्सना की है।

दुबिधा बउरी मन बउराइआ।
झूठे लालच जनमु गवाइआ ॥१॥१॥

(प्रभाती असटपदीआं महला १ बिभास)

कहा मन बिखिआ सिउ लपटाही।
या जग मे कोउ रहनु न पावै इक आवहि इक जाही ॥रहाउ॥
कां को तनु धनु संपति कां की का सिउ नेहु लगाही।
जो दीसै सो सगल बिनासै जिउ बादर की छाही ॥१॥१॥

(रागु सारंग महला ९)

सुणि मन अंधे मूरख गवार।
आवत जात लाज नहीं लागै बिनु गुर बूडै बारो बार ॥१॥रहाउ॥५॥

(प्रभाती असटपदीआं महला १ बिभास)

मन रे कहा भइओ तै बउरा।
अहिनिसि अउध घटै नही जानै भइओ लोभ संगि हउरा ॥१॥रहाउ॥८॥

(गउड़ी महला ९)

[1]पाँचवें गुरु ने मन को समझाने की अनेक युक्तियाँ बताई हैं। वे कहते हैं, "अरे मन, प्रभु दुःख-सुख का देने वाला है, उसका चिंतन कर, और अन्य वस्तुओं का त्याग कर। प्रभु जो कुछ करें, उसी में सुख मानो। इधर उधर क्यों भटकते फिरते हो? कौन सी वस्तु तुम्हारे साथ आई है जिससे तुम लोभी पतंग के सदृश विषयों के रस में लिप्त रहते हो? हे मन, तू राम नाम

---

१ रागु गउड़ी सुखमनी महला ५, १५ वें सलोकु के ४, ५, ६, और ८

का जप कर, इससे तुम पति परमात्मा का स्थान प्राप्त करोगे। तुम जिस सौदे को लेने के लिये यहाँ आये हो, वह सौदा तुम्हें संतों के घर प्राप्त होगा। अभिमान त्याग कर, हे मन, तू उस सौदे को मन में मोल लो। रामनाम का सौदा अपने हृदय में तौल लो। इस रामनाम रूपी सौदे का खेप लाद कर संतों के साथ चलो। अन्य सांसारिक विषयों का त्याग कर। ऐसा करने से तुम्हें सब लोग धन्य धन्य कहने लगेंगे, और परमात्मा के दरबार में तुम्हारा मुख परम उज्जवल होगा। इस व्यापार का व्यापारी कोई विरला ही होता है। नानक कहते हैं कि ऐसे व्यापारी के ऊपर मैं न्यौछावर हो जाता हूँ। ऐ मन, तू साधुओं के चरणों को धो धो कर पीओ। अपना प्राण साधुओं को अर्पित कर दो। साधु की चरण-रज में स्नान करो और साधु के ऊपर अपने को कुरबान कर दो। साधु-संग अनेक जन्मों के भाग्य से प्राप्त होता है। साधुओं के साथ परमात्मा का कीर्तन गायन करो। साधु अनेक विघ्नों से रक्षा करता है। हरि के गुणों का गान कर, अमृत रस पान करो। संतों की ओट पकड़ कर, नानक परमात्मा के द्वार पहुँचा, और वहाँ उसे सारे सुखों की प्राप्ति हुई। जिसके मन में गुरु की प्रतीति है, उसीके मन में प्रभु आते हैं। जिसके हृदय में एक परमात्मा का निवासस्थान होता है, वही तीनों लोकों में "भगत" "भगत" सुना जाता है। जिसके हृदय में एक (परमात्मा) का निवासस्थान होता है, उसके सारे कार्य, और उसका सारा रहन सहन सत्यमय हो जाता है। उसके हृदय में सत्य का निवास हो जाता है और वह सत्य ही कथन करता है। उसकी दृष्टि सच्ची हो जाती है। उसका स्वरूप भी सच्चा ही हो जाता है।"

पांचवें गुरु के उपर्युक्त कथन में हम मन-निरोध के निम्नलिखित साधनों की ओर संकेत पाते हैं—(१) प्रभु का स्मरण, (२) सांसारिक विषयों का त्याग। (३) रामनाम का जप, (४) अभिमान त्याग, (५) संत पुरुषों का सहारा पकड़ना, (६) साधु पुरुषों की सर्व प्रकार की सेवा, तथा उनके साथ नाम की कीर्ति का चिंतन, (७) एक परमात्मा को अपने हृदय में सदैव के लिए बसा लेना, (८) सत्य का आचरण, (९) गुरु में अटूट निष्ठा और विश्वास, (१०) यथा लाभ में संतोष।

इसी भाँति अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें मन को वश में करने के अनेक उपाय बताये गये हैं।

अब हम यह कहकर इस विषय को समाप्त करना चाहते हैं कि मन-निरोध से किस प्रकार के अनिर्वचनीय सुख तथा विलक्षण आनन्द की प्रतीति होती है। इस आनन्द को गुरुओं ने कई नाम से संबोधित किया है—चतुर्थ पद (तुरीय पद), सहजावस्था का सुख, ब्रह्म-सुख आदि।

आदि गुरु नानक देव ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है[1], "हरि के बिना मेरा मन कैसे धैर्य धारण कर सकता है? करोड़ों कल्पों के दुःखों का नाश हो गया। सत्य को दृढ़ कर दिया

---

१ रागु सारग असटपदीआ, महला १, घरु १, असटपदी २ के १ से ६ तक

और हमारी रक्षा कर ली। क्रोध को दूर कर दिया, अहंकार और ममता जलकर भस्म हो गए। शाश्वत, और सदैव नवीन रहनेवाले प्रेम की प्राप्ति हो गई। अन्य भय दूर हो गए। चंचल मति को त्याग कर, भव भंजन (परमात्मा) को पा लिया। गुरु के 'सबद' में 'लिव' लग गयी। हरि-रस को चखकर तृषा का निवारण कर दिया। अत्यंत भाग्यशाली हूँ, परमात्मा को मिला लिया। जो सरोवर रिक्त था, वह (प्रेम रूपी रस से) सींचा जाकर परिपूर्ण हो गया। गुरु की आज्ञा से सत्य को पाकर निहाल हो गया। मन, 'निहकेवल' नाम में अनुरक्त होकर रँग गया। वे प्रभु 'आदि जुगादि' से दयाल है। 'मोहन' ने मेरे मन को मोह लिया। बड़े भाग्य से उनमें 'लिव' लग गई। सत्य परमात्मा को विचार कर, पापों और दुःखो को काट दिया। मन अत्यंत 'निरमल' और 'अनुरागी' हो गया। मन को मारकर 'निरमल' पद को पहचाना और हरि-रस में शराबोर हो गया। मैंने एक (परमात्मा) को छोड़कर दूसरे को जाना ही नहीं, ऐसी बुद्धि हमें सतुगुरु ने दी।"

इसी भाँति पांचवें गुरु ने मन के **आंतरिक प्रकाश** का बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णन किया है।[1] "**ज्ञान रूपी अंजन से मन का अज्ञान रूपी अंधकार नष्ट हो जाता है**। हर्ष शोक का सर्वथा नाश हो जाता है, और विराट् पुरुष का बोध होता है। उस विराट् पुरुष का न आदि है न अंत। उसकी शोभा अपरपार है। उसके इतने रंग है, जिनकी गणना की ही नहीं जा सकती। उस विराट् पुरुष की स्तुति अनेक ब्रह्मा वेदों के द्वारा करते है, और अनन्त शिव बैठकर उसी का ध्यान किया करते है। अनेक अंशावतार उसी की एक कला में से हुआ करता है। उसी में अनेक इन्द्र भी ऊंचे (स्वर्गलोक में) स्थित है। अनन्त पावक, पवन और नीर भी उसी में विश्राम पा रहे है। अनेक रत्नों, दही और दूध के सागर भी उसी में स्थित हैं। अनन्त सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रगण उसी में प्रकाशित हो रहे हैं। अनन्त देवी और देवता भी उसी में पूजा पा रहे है। अनन्त पृथ्वियां, और अनन्त कामधेनु, अनन्त कल्पवृक्ष, अनन्त मुखों के स्वर, उस विराट् पुरुष की ही शोभा बढ़ा रहे है। अनन्त आकाश, अनन्त पाताल, अनेक मुखों से भगवान का जप, अनेक शास्त्र, स्मृति पुराण, अनन्त प्रकार के प्रवचन, अनन्त श्रोतागण, सब जीवों से परिपूर्ण भगवान ही में विहार कर रहे हैं। अनन्त धर्मराज, अनन्त कुबेर, अनन्त वर्ण, अनन्त सुवर्ण के सुमेरु पर्वत उस विराट् पुरुष के ही अंग है। अनन्त शेषनाग (अपनी हजार जिह्वाओं से) उसी 'नव तन' का नाम ले रहे हैं। फिर भी परब्रह्म का अंत नहीं पाते। अनन्त पुरियां और अनन्त खण्ड, अनेक रूप रंग के ब्रह्मांड, अनन्त वन, अनन्त फल, और अनन्त (वनस्पतियों के) मूल, उस अनन्त विराट् पुरुष में ही स्थित है। वह पुरुष स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों में बना है। अनन्त युग-युगान्तर, दिन और रात, उत्पत्ति और प्रलय उसी के अभिन्न अंग हैं। अनन्त जीव उसी परमात्मा के गृह में विश्राम पा रहे हैं। वही राम सब स्थान में रमण कर रहा है। उसकी अनन्त माया देखी नही जा सकती। हमारा 'हरि राई' अनेक कलाओं में क्रीड़ा

---

१ सारग महला ५, असटपदी घरु ६ (१ से ले कर १० तक)

कर रहा है। अनन्त 'ललित संगीत' उसी में ध्वनित हो रहे हैं। अनेक गुप्त चित्त (मन) उसकी कला में ही प्रकाशित हो रहे हैं।"

जो मन समाहित हो जाता है, उसमे परमात्मा की अनन्तता का साक्षात् प्रतिबिम्ब पड़ता है, प्रत्युत बह परमात्मस्वरूप ही हो जाता है। जैसे अग्नि में लोहे का गोला रखने से साक्षात् अग्नि स्वरूप हो जाता है, उसी भाति मन परमात्म-चितन से परमात्म-रूप ही हो जाता है।

(असमाप्त)

श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

महाकवि माघ और उनका काव्य सौन्दर्य

[१]

विशाल संस्कृत साहित्य में जिन काव्यरत्नों की गणना सर्वोपरि की जाती है, वे केवल छः हैं, इनमें से तीन लघुत्रयी तथा तीन वृहत्त्रयी के नाम से विख्यात हैं। कविकुलगुरु कालिदास के तीनों काव्य रघुवंश, कुमारसभव तथा मेघदूत—ये तीन लघुत्रयी तथा भारविकृत किराता-र्जुनीय, माघकृत शिशुपालबध तथा श्रीहर्षकृत नैषधीयचरित—ये तीन वृहत्त्रयी के नाम से विख्यात हैं। यद्यपि इन छहों काव्यग्रन्थों के अतिरिक्त अश्वघोष के सौन्दरनन्द तथा वुद्धचरित, भट्टि स्वामी के रावणवध अथवा भट्टिकाव्य, कुमारदास के जानकीहरण तथा रत्नाकर कवि के विशालकाय महाकाव्य हरविजय आदि की गणना भी संस्कृत के विख्यात काव्यों में की जाती है, किन्तु संस्कृत साहित्य में इन काव्यों को उतनी लोकप्रियता प्राप्त नहीं हो सकी, जो ऊपर के छहों काव्यों को प्राप्त हुई है। इसका जो कुछ भी कारण रहा हो, किन्तु इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि ये सब काव्य काव्यगुणों में उन छहों काव्यों की कोटि के नहीं हैं। किसी में दुरूहता तथा वाग्जाल अधिक है तो किसी में भारतीय आर्य मर्यादा का सर्वथा प्रतिपालन नही है। बौद्ध तथा जैन संप्रदाय के धार्मिक ग्रन्थो के समान बौद्ध तथा जैन महाकवियों द्वारा रचित उनके काव्यों का भी उचित सम्मान नही हुआ। इसका मुख्य कारण यही रहा कि संस्कृत समाज में सदा से ब्राह्मणों का बाहुल्य रहा,चाहे किसी प्रतिक्रियावश ही क्यों न रहा हो,ब्राह्मणों ने इन काव्यों के पठन-पाठन की परम्परा में कोई सहयोग नहीं किया होगा। यही कारण है कि इन अन्यान्य महाकाव्यों का उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सका, वे सदा उपेक्षित ही रहे और आज भी उपेक्षित-से ही हैं। संस्कृत की परीक्षा पाठ्य-प्रणालियों में बहुत कम इन्हें स्थान दिया गया है और संस्कृत के पंडित-समाज में इनके पठन-पाठन की कोई सुचारु व्यवस्था नहीं है।

उपर्युक्त छहों काव्यों में सबसे दुरूह, जटिल तथा कवि-कल्पना की ऊंची उड़ानों से व्याप्त श्री हर्षकृत नैषधीयचरित तथा उसके बाद माघकृत शिशुपाल वध है। भारवि के किरातार्जु-नीय तथा कालिदास के तीनों काव्यों जैसी लोकप्रियता यद्यपि इन दोनों को भी नहीं प्राप्त है किंतु पण्डितम्मन्य समाज में इन दोनों महाकाव्यों की सर्वमान्य प्रतिष्ठा है।

संस्कृत साहित्य ने हमारे इस विशाल देश में सहस्रों वर्षों तक लंबी प्रतिष्ठा प्राप्त की है, अनेक साम्राज्यों, राज्यों तथा सामन्तों की छत्र-छाया में उसने अपने वैभव के सुनहले दिन

बिताये हैं। संभवतः किसी भी प्राचीन भाषा को इतनी लंबी अवधि तक इतने सुन्दर दिन देखने को नहीं मिले हैं। एक-एक सूक्ति तथा श्लोक पर सहस्रों सुवर्ण-मुद्राएं लुटानेवाले गुणग्राही सम्राटों तथा राजाओं ने शताब्दियों तक इसका मनुहार किया है। प्रकृति की सहचरी हमारे देश की धरती ने सहस्रों वर्षों तक अपनी समस्त संपदाओं, समृद्धियों, सुविधाओं तथा प्रेरणाओं से इसका संवर्धन किया है। संभवत. देश का ऐसा कोई अंचल नहीं बचा होगा, जहाँ इसने अपने वैभव-विलास की वैजयन्ती न फहराई हो। विदेशी विधर्मियों तक को इसकी शरण लेनी पड़ी है। ऐसी सर्व साधन संपन्न, सहस्रों वर्षों की सुख-समृद्धियों मे पली एक उन्नत राष्ट्र की विजयिनी भाषा में केवल आठ-दस उच्चकोटि के काव्यो की गणना आश्चर्य की बात नहीं है। विपरीत परिस्थितियों और विपत्तियों के जिस क्रूर झंझावात से होकर संस्कृत साहित्य को गुजरना पड़ा है उसकी भी समानता कोई दूसरी भाषा नही कर सकती। किन्तु इसके साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि "सिहों के लंहड़े नही हसों की र्नाह पात", सर्वोत्कृष्ट वस्तु शताब्दियों में कहीं एक बनती है। सात सौ वर्षो के हिन्दी साहित्य मे रामचरितमानस का प्रतिद्वंद्वी कौन ग्रन्थ रचा गया? इसी प्रकार सस्कृत के जिन उत्कृष्ट काव्य ग्रन्थो की चर्चा ऊपर की गई है वे संस्कृत साहित्य के अनुपम रत्न हैं। सहस्रो वर्षों की लंबी अवधि में उनकी समानता करने की क्षमता किसी अन्य रचना मे नही हुई। समय और विपत्तियो के थपेड़े मे भी वे हिमवान की भाँति अविचल रहे। विरोधियों के विध्वसक उपायों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

इन काव्यों में, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, तीन तो अकेले कालिदास के ही हैं और शेष तीन एक-एक कवि के है। वह अगाध पुण्यशील और अमर यशस्वी महाकवि कालिदास धन्य था, जिसकी समस्त रचनाएं सस्कृत साहित्य की अब तक मुकुटमणि बनी हैं। किन्तु इन तीन अन्य महाकवियों का भी यश कभी मलिन होनेवाला नहीं है, जिनकी ये रचनाएं उन्हे अमर बनाने मे पूर्ण सशक्त हैं। वास्तव में कवियो की छोटाई या बड़ाई का निर्णय करना बड़ा कठिन कार्य है, उनकी कृतियो की तुलना करने के लिए किसी तराजू या बटखरे का ढूँढ़ना असंभव है। प्रत्येक कवि में कोई न कोई नवीनता और विशेषता होती ही है। रचनाशैली भिन्न होती है, भिन्न भिन्न गुणों का समावेश उनकी रचनाओं में होता है। किसी को कुछ खास चीजे पसन्द आती हैं, किसी को कुछ दूसरी। भाषा और वर्ण्य विषय भी अन्तर डालता ही है। ऐसी स्थिति मे किसे सबसे अच्छा कहा जाय और किसे उससे छोटा, यह बड़ा कठिन कार्य है। यही कारण है कि आज तक भिन्न-भिन्न कवियो के संबंध में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। कोई कालिदास को सर्वश्रेष्ठ कवि मानता है तो कोई भारवि को। कोई माघ को सर्वगुणसंपन्न बताता है तो कोई श्री हर्ष को। अपने-अपने मतों की पुष्टि के लिए लोगों के पास प्राचीन सूक्तियों के भण्डार भी भरे पड़े हैं। हम यहाँ इस अप्रिय तथा आग्रह भरे विवाद में पड़ना नहीं चाहते, किंतु अपने वर्ण्य विषय के लिए कुछ प्राचीन सूक्तियों के उद्धरण का लोभ नहीं संवरण कर सकते।

इन छहों काव्य ग्रन्थों के संबंध में पंडित समाज में निम्नलिखित दो सूक्तियाँ अति प्रचलित हैं:—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
नैषधे (दण्डिनः) पदलालित्यं, माघे सन्ति त्रयोगुणाः ।।१।।
तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।।२।।

अर्थात्, "कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव, नैषध अथवा दण्डी का पदलालित्य प्रशंसनीय है, किंतु माघ कवि में ये तीनों ही गुण पाये जाते हैं। तथा, भारवि कवि की कान्ति तभी तक शोभित होती है जब तक माघ कवि का उदय नहीं होता। लेकिन नैषध काव्य के प्रकाश में आने पर कहाँ माघ और कहाँ भारवि ?" ऊपर की सूक्तियों के आधार पर माघ कवि सर्वश्रेष्ठ हुए तो नीचेवाली सूक्ति से वे नैषधकार श्रीहर्ष से पीछे हो जाते हैं। किंतु माघ कवि के संबंध में सूक्तियों का यह जाल दूसरे कवियों की अपेक्षा बहुत बड़ा है। अनेक प्रकार से वे सर्वश्रेष्ठ कवि स्वीकार किये गये हैं। क्या अलंकारों की छटा, क्या अर्थ और भाव की गंभीरता, क्या अन्य लौकिक विषयों का अगाध ज्ञान-गौरव, क्या पदों की मनोहारिता तथा क्या वर्ण्य विषय तथा भाषा पर उनका असीम अधिकार। सभी वस्तुओं से माघ को सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध करनेवाले आलोचकों ने उनकी बहुमुखी प्रशस्तियाँ गायी हैं। उनके एकलौते महाकाव्य का गौरव तो उन्हीं की भाँति सर्वोपरि है। नीचे की दो सूक्तियाँ माघ और उनकी रचना के संबंध में क्या कह रही हैं:—

कृत्स्नप्रबोधकृत् वाणी भारवेरिव भारवेः।
माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते ।।१।।

[राजशेखर]

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा ।।२।।

[धनपाल]

अर्थात्—"सूर्य की किरणों की भाँति जहाँ कविवर भारवि की कविता समग्र ज्ञान को प्रकाशित करनेवाली है, वहीं माघ मास के समान माघ का नाम सुनकर किस कवि को कँपकँपी नहीं आ जाती।" तथा "जिस प्रकार माघ महीने के ठिठुरते हुए जाड़े में बन्दर लोग सूर्य का स्मरण करते हैं और चुपचाप रहकर इधर-उधर उछल कूद नहीं मचाते उसी प्रकार माघ कवि की रचना का स्मरण करके बड़े-बड़े कवियों का उत्साह पद-योजना करने में ठण्ढा पड़ जाता है, चाहे वह भारवि के पदों का कितना ही स्मरण क्यों न करें।"

इन दोनों सूक्तियों में यद्यपि इनके कर्ताओं का हृदय भारवि की ओर झुका हुआ है, किंतु उनके मस्तिष्क में माघ की धाक धँसी हुई है। इसी प्रकार एक स्थान पर माघ और कालिदास की चर्चा इस प्रकार की गई है:—

"पुष्पेषु जाती, नगरीषु काञ्ची, नारीषु रम्भा, पुरुषेषु विष्णुः।
नदीषु गंगा नृपतौ च रामः काव्येषु माघः कवि कालिदासः॥"

प्रसिद्धि है कि यह श्लोक विक्रम के नवरत्न घटखर्पर का है। जो हो, माघ की इस एक अद्वितीय रचना शिशुपालबध के प्रति सूक्तिकार का आग्रह स्पष्ट है। कविरूप में कालिदास की समानता करनेवाले माघ कैसे हो सकते थे, जिनकी केवल एक ही रचना सामने आती है, जब कि दूसरी ओर कालिदास ने अपनी रससिद्ध लेखनी जहाँ लगा दी वह सब काव्य बन गया है।

शिशुपालबध माघ कवि की एकमात्र रचना है। यद्यपि कुछ स्फुट श्लोकों के रचनाकार के रूप में भी माघ का नाम लिया जाता है किन्तु शिशुपालबध के अतिरिक्त उनकी अन्य रचना का नाम सामने नही आता। इस एक ही ग्रन्थ के कारण उन्होंने संस्कृत-साहित्य में अपना शीर्षण्य स्थान बना लिया है। यद्यपि माघ के शिशुपालबध की प्रमुख विशेषताओं की संख्या एक दो नहीं है और सभी प्रकार के काव्य गुणों की अपूर्व छटा इस अनुपम कृति मे स्थान-स्थान पर छहरी दिखाई पड़ती है, किन्तु उसकी एक विशेषता की ओर सबका ध्यान बरबस ही चला जाता है। वह है उसकी शब्दयोजना तथा पदयोजना। न केवल शब्दों तथा पदों के ललित विन्यास में ही माघ निपुण थे, प्रत्युत नवीन-नूतन श्रुतिमधुर शब्दावली तथा पदावली के तो वह मानो शिल्पी ही थे। भट्टि की भाँति व्याकरण के सूत्रों का उदाहरण बनाने के लिए वे नही बैठे थे और न श्री हर्ष की भाँति जटिल शब्दो को ढूँढ़ ढूंढ़कर पदो मे पच्चीकारी करने का ही जिम्मा लिया था किन्तु कहा यह जाता है कि कविता के क्षेत्र में माघ ने जितने नूतन शब्दों का प्रयोग किया है, उतना किसी अन्य कवि से अकेले नही बन पड़ा है। उनके महाकाव्य शिशुपालबध के संबंध मे यह सूक्ति अति प्रचलित है:—

नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते।

अर्थात् माघकृत शिशुपालबध महाकाव्य का नवसर्ग समाप्त होने पर कोई ऐसा नया शब्द नही रह जाता जिसका प्रयोग कविता के क्षेत्र मे कही अन्यत्र हुआ हो। इसी प्रकार पद माधुर्य की निपुणता तो कोई माघ से ही आकर सीख सकता है। उनके पदों में श्रुति मधुर शब्दों की संगीतात्मक एकरसता, वीणा के तारों की झनकार की भाँति अर्थ के अवगम की प्रतीक्षा बिना किए ही हृदय को रसाप्लुत कर देती है। ये कुछ पद स्वयं पढ़िये:—

नवपलाशपलाशवनं ततः स्फुटपरागपरागतपंकजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः॥ सर्ग ६, २॥

नवनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसम्भृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखला कलकलोऽलकलोलदृशान्यया ॥सर्ग ६, १४
मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकरांगनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥सर्ग ६, २०
विकचकमलगन्धैरन्धयन् भृंगमालाः सुरभितमकरन्दं मन्दमायाति वायुः।
समदमदनमाद्यद्यौवनोद्दामरामारमणरभसखेदस्वेदविच्छेददक्षः ॥सर्ग ११, १९

इन पदों में किस प्रकार का पदलालित्य है, उसका अनुभव सहृदय पाठक सहज ही कर सकते हैं। अनुप्रास और यमक की छटा छोड़ भी दी जाय तो भी कर्ण-कुहरों में अमृत रस घोलने वाली मधुर शब्दावली ही पर्याप्त काव्यानन्द दे जाती है। श्लेष, यमक और अनुप्रास की रचना में संभवतः माघ के समान सफलता किसी अन्य संस्कृत कवि को नहीं मिली है। उसका कारण यह था कि वे एक प्रकांड महावैयाकरण[1] थे। शब्दों की निरुक्ति और व्युत्पत्ति की अपार क्षमता उनमें थी और जब जैसा प्रयोग उन्हें भाता था, वैसा ही अनायास वे करते भी थे। ऐसा लगता है, जैसे अपने एक-एक छन्द को उन्होंने काव्य गुणों के एक-एक ढाँचे में ढालकर निकाला हो। क्या रस, क्या अलंकार, क्या शब्दयोजना और क्या वर्ण विषय की अन्विति—किसी भी वस्तु में कहीं से कोई त्रुटि नहीं परिलक्षित होती। कविता कामिनी के सर्वविधि शृंगारों को उन्होंने हस्तगत किया था। ध्वनि को ही काव्य का सर्वस्व माननेवालों से लेकर अलंकारप्रेमी अथवा शब्दवैचित्र्य या विकट बन्धों (अनुलोम, प्रतिलोम, एकाक्षर, सर्वतोभद्र, गोमूत्रिका आदि) आदि के निर्माण में पांडित्य-प्रदर्शन करनेवालों तक को संतुष्ट करने की माघ ने अपने काव्य में पूरी सामग्री प्रस्तुत की है। किन्तु क्या मजाल है कि अर्थ, भाव तथा वर्ण्य विषय की अन्विति में कोई बाधा उपस्थित हुई हो। भावों की नूतनता, मनोज्ञता तथा रचनाचातुरी की अनुपम छटा उनके महाकाव्य में सर्वत्र दिखायी पड़ती है।

माघ एक उत्कृष्ट कोटि के कवीश्वर थे। यह सत्य है कि कविकुलगुरु कालिदास की भाँति उनकी कविता सर्वसाधारण जनों की मनोभावनी नहीं हो सकी, किंतु यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि पण्डितों की दृष्टि में माघ की महत्ता कालिदास से कम नहीं ह। कालिदास की कविता यदि सुन्दर मानसरोवर है जिसमें सब प्रकार के आकर्षण मौजूद हैं तो माघ की एक विशाल रत्नाकर है, जिसमें अवगाहन करने की स्फुरणा सर्वसाधारण में नहीं होती। कालिदास यदि जनता के कवि थे तो माघ कवियों के कवि तथा पण्डितों के पथ-प्रदर्शक थे। उनकी

---

१. जैसा कि शिशुपालवध की अनेक हस्तलिखित प्रतियों में पुस्तक की समाप्ति पर इस प्रकार लिखा गया है:—इति श्री भिन्नमालवास्तव्य दत्तक सूनोर्महावैयाकरणस्य माघस्य कृतौ शिशुपालवधे......'इत्यादि

रचना की छटा निहारने की शक्ति अथवा उससे काव्यानन्द प्राप्त करने की क्षमता साधारण काव्यप्रेमियों से ऊपरी वर्ग के काव्य रसिकों में होती है। सचमुच वे माघ महीने की भाँति पण्डितम्मन्य नवयुवकों को भी कँपा देने वाले थे। यही कारण था कि कितने पण्डित लोग आजीवन माघ की इस एक मात्र अनूठी कृति में ही अपना समग्र जीवन लगा देते थे। संस्कृत समाज में यह किंवदन्ती बहु प्रसिद्ध है कि

मेघे माघे गतं वयः

अर्थात् कालिदास कृत मेघदूत तथा माघकृत माघकाव्य अथवा शिशुपालबध में ही पूर्ण आयु चली गयी। ऐसे विशाल रत्नाकर के गुण दोषों की समीक्षा करना बड़े साहस, समय और सुविधा का काम है। एक छोटे से लेख में समग्र विशेषताओं पर प्रकाश डालना नितान्त असम्भव है। फिर भी हिन्दी के पाठकों के मनोरंजनार्थ एवं उनमें इस महाकवि की अनूठी कृति के प्रति आकर्षण पैदा करने के लिए उसकी कुछेक विशेषताओं पर प्रकाश डाला जा रहा है।

यह हमारा दुर्भाग्य है कि विदेशी शिक्षापद्धति के कारण विदेशी महाकवियों तथा उनकी कृतियों के सम्बन्ध में तो अथ से ले कर इति तक सब कुछ वता देने वाले विद्यार्थी, विद्वान् कवि तथा लेखक अवश्य ही सर्वत्र मिलेंगे किन्तु हिन्दी की जननी सुरभारती के बरद पुत्र संस्कृत के अमर कवियों की कृतियों का नाम तो दूर रहा, स्वयं उन्हीं के नाम से परिचित होने की बात भी हमारे कितने ही कालेज के विद्यार्थी, विद्वान् अध्यापक, ख्यातनामा कवि तथा लेखक नही बता सकेंगे। हिन्दी के लेखकों, कवियों तथा समालोचकों में बहुधा ऐसे कम लोग मिलेंगे, जो विदेशों के प्राचीन कवियों तथा उनकी कृतियों से अति परिचित न हों, किन्तु यदि उनसे पूछा जाय कि अश्वघोष की प्रमुख कृति क्या है तथा माघ के अद्वितीय महाकाव्य का क्या नाम है तो संभवतः उनमें से बहुत कम लोग इस बात का उत्तर दे सकेंगे। किन्तु हिन्दी की समृद्धि के लिए अब अधिक दिनों तक यह प्रवृत्ति नही चल सकेगी। हिन्दी के साधकों को संस्कृत के इन महान सिद्धों से परिचय लाभ करना ही होगा। और इस प्रकार थोड़ा रुक कर, श्रमपूर्वक उन्हें इस अपनी पुरानी अमूल्य सम्पत्ति का लेखा-जोखा लगा लेने में लाभ ही लाभ होगा। मैं प्रकरण से कुछ दूर हो गया। केवल इतना ही कहना था कि हिन्दी के पुजारियों को इन सुरभारती के अमर शृंगार करने वाले साधकों की कृतियों का भी कभी कभी रसास्वादन अवश्य करना चाहिए। अस्तु!

शिशुपालबध माघ कवि की एकमात्र रचना है, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। इस विस्तृत महाकाव्य में कवि की महान कवित्व शक्ति तथा अगाध पाण्डित्य का पदे-पदे प्रदर्शन है। यह महाकाव्य बीस सर्गों का है। और इसके छन्दों की संख्या कुल मिला कर १६५० है। इसमें अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो संस्कृत का ऐसा एक भी प्रचलित छन्द न मिलेगा जिसका प्रयोग माघ ने अपने

इस महाकाव्य में न किया हो। संक्षेप में इसकी कथा इस प्रकार है:—

"भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकापुरी में वसुदेव के सद्‌म में विराजमान हैं, वहीं देवर्षि नारद पहुँचते हैं और बातचीत के प्रसंग में वे जन्म-जन्मान्तर से देवताओं के परम विरोधी चेदिनरेश शिशुपाल का नाश करने की प्रेरणा देते हैं। शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्ण की फूआ का लड़का अर्थात् उनका फुफेरा भाई था। भाई के ऊपर चढ़ाई कर के उसका सत्यानाश करने की बात कुछ अटपटी अवश्य थी किन्तु लोकोत्तर पुरुष श्रीकृष्ण को पूरे भूमण्डल की सुव्यवस्था और शान्ति की चिन्ता थी। बलराम की सम्मतिमें तुरन्त ही चढ़ाई कर देना उचित था किन्तु मनीषी और राजनीति में निष्णात उद्धव उन्हें कुछ देर रुक कर किसी बहाने से चढ़ाई करने की सलाह देते हैं। उद्धव को बात इसलिए और उचित ठहरती है कि ठीक उसी अवसर पर पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ का आयोजन कर रहे थे, जिसमें भूमण्डल भर के नरेशों की उपस्थिति संभावित थी और शिशुपाल का आगमन भी उस अवसर पर अवश्यम्भावी था। उद्धव की बात मान ली जाती है और भगवान् श्रीकृष्ण अपनी सेना, सम्मानित पुरजन और परिजनों के साथ इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थान करते हैं। मार्ग में उनका सारथी दारुक रैवतक पर्वत का बड़ा मनोहारि वर्णन करता है। रात्रि हो जाने पर सेना उसी पर्वत पर पड़ाव डाल देती है और यदुवंशी लोग प्रकृति सुन्दरी के उस मनोहर प्रांगण में मुक्त विहार करने लगते हैं। सरोवरों में जलक्रीड़ा तथा वन्यभूमि पर वन विहार करने के उपरान्त सूर्योदय होने पर भगवान् श्रीकृष्ण यमुना पार कर सब के साथ इन्द्रप्रस्थ पहुँच जाते हैं। युधिष्ठिर उनकी अग्रिम पूजा कर के उन्हें सम्मानित करते हैं। चेदिनरेश अभिमानी शिशुपाल को श्रीकृष्ण का यह सम्मान सहन नहीं होता और वह इसका प्रत्यक्ष विरोध करता है। इतना ही नहीं, वह श्रीकृष्ण और उनके भक्त पाण्डवों को अपमानित करने के लिए अपनी सेना को युद्धार्थ सुसज्जित होने का आदेश देता है और अपने विशेष दूत द्वारा गर्वोक्ति से भरा संदेश भेज कर युद्ध को अनिवार्य बना देता है। फिर तो श्रीकृष्ण और शिशुपाल की विशाल सेना में तुमुल युद्ध छिड़ जाता है और अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण अपने सुदर्शन चक्र से शिशुपाल का काम तमाम कर देते हैं और उसका शरीरस्थ तेज उन्हीं में आ कर विलीन हो जाता है।"

बस यही छोटी-सी कथा है, जिसकी घटना पुराणों में अति प्रसिद्ध है। किन्तु इसी छोटी-सी घटना का कवि ने इतना घटाटोप वर्णन किया है कि इतना बड़ा विशाल महाकाव्य ग्रन्थ तैयार हो गया है। इसमें कोई भी बात सीधे-सादे शब्दों में नहीं कही गयी है। कथा के प्रवाह को ऐसे मनोहारी मोड़ों पर ला कर रोका गया है कि पाठक को पता भी नहीं चलता कि वह कहाँ खड़ा है और क्या देख रहा है। जिधर भी उसकी दृष्टि जाती है वह चकित हो जाता है। कोई वर्णन, कोई प्रसंग अथवा कोई भाव साधारण ढंग से नहीं प्रस्तुत किया गया है, यहाँ तक कि कथा का प्रवाह भी जहाँ कहीं आगे बढ़ाया गया है, वहाँ भी अन्योक्ति, व्यंग अथवा किसी अलंकार की मनोहारी लपेट है। यही कारण है कि समूचा महाकाव्य आदि से ले कर अन्त तक अत्यन्त

प्रभावोत्पादक बन गया है। माघ की भाषा शैली तथा भाव-प्रकाशन की प्रणाली—दोनों ही असाधारण हैं। अन्य कवियों ने जिन प्रसंगों को अधूरा छोड़ दिया है, माघ ने उन्हें अपनी प्रतिभा से पर्याप्त सत्कृत किया है। उनकी वर्णन चातुरी, भाव सुष्ठुता, विचारों की गंभीरता सर्वत्र विद्यमान हैं। कोई ऐसा वर्णन नहीं है जिसमें नूतनता, सजीवता तथा आकर्षण का अभाव हो। प्रकृति-पर्यवेक्षण एवं उसके चित्रण की माघ की अपनी शैली है। उनके प्राकृतिक चित्रों में एक विचित्र ढंग की मोहिनी है, जिसमें प्रकृति सुन्दरी के सहज शृंगारों का भरपूर प्रयोग किया गया है। यद्यपि उन्होंने प्रकृति के सभी उपादानों को अधिकांशतः उद्दीपन विभाव के रूप में ही ग्रहण किया है किन्तु बन, पर्वत, नदी, वृक्ष, लता, संन्ध्या, उषा, सूर्योदय, सूर्या त, चन्द्रोदय, चन्द्रास्त, सरोवर, कुंज, उपवन आदि की विशेषताओ तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओं मे फूलने वाले पुष्पों का इतना सूक्ष्म चित्रण किया है कि पाठक उनके वर्णनों में चित्र देखने जैसा आनन्द प्राप्त करता है। साथ ही उनके ऐसे वर्णनों मे विभिन्न अलंकारों की ऐसी सजीवता पाई जाती है जो अन्यत्र दूसरे काव्यों में बहुत कम मिलती है।

माघ का कोई भी वर्णन अलंकारविहीन नहीं होता। अलंकारों के बिना तो वे जैसे चल ही नही पाते। इस कथन का तात्पर्य यह नही है कि उन्होंने हिन्दी के आचार्य कवि केशवदास की भाँति अलंकारों को ला-ला कर छन्दों के मत्थे मढ़ा है और वर्ण्य विषय को उससे मन्थर तथा अशोभन बना दिया है प्रत्युत इसके विपरीत उनके अलंकारो की मनोहारी छटा वर्ण्यविषय को जीवन्त करने के साथ साथ कविता कामिनी के सौन्दर्य को कई गुना बढ़ा देती है। नीचे सन्ध्या तथा प्रातःकाल के उनके एकाध प्रसंगों का आनन्द लीजिएः—

नवकुंकुमारुणपयोधरया स्वकरावसक्तरुचिराम्बरया।
अतिसक्तिमेत्य वरुणस्य दिशा भृशमन्वरज्यदतुषारकरः॥
गतवत्यराजत जपाकुसुमस्तबकद्युतौ दिनकरे ऽवनतिम्।
बहलानुरागकुरुविन्ददलप्रतिबद्धमध्यमिव दिग्वलयम्॥
द्रुतशातकुम्भनिभमंशुमतो वपुरर्धमग्नवपुषः पयसि।
रुरुचे विरिञ्चिनखभिन्नबृहज्जगदण्डकंकतरखण्डमिव॥सर्ग ९, ७-९

अर्थात् सन्ध्या हो जाने पर पश्चिम दिशा नवीन कुकुम के समान लाल लाल बादलों से व्याप्त हो गयी और उधर आकाश भी सूर्य की किरणों से व्याप्त हो कर अत्यन्त सुन्दर हो गया।[1]

---

१ यह तो एक अर्थ हुआ, समासोक्ति का चमत्कार लीजिए, उष्णरश्मि भास्कर नूतन कुंकुम से अनुरंजित लाल वर्ण के पयोधरोंवाली, अपने हाथ से पकड़े हुए वस्त्र से सुशोभित, वरुण की दिशा अर्थात् (पर स्त्री) पश्चिम दिशा के साथ अत्यंत आसक्त होकर अनुरक्त हो गया।

सूर्य भी उस दिशा में जा कर अत्यन्त लाल (अनुरक्त) हो गए और उनकी शोभा जवाकुसुम के पुष्पों के गुच्छों की कान्ति के समान हो गयी। इस प्रकार सूर्य के अस्तोन्मुख हो जाने पर समस्त दिङ्मण्डल ऐसा सुशोभित होने लगा मानो अत्यन्त लाल पद्मराग मणि के टुकड़ों के मध्य में जटित कंकण हो। जब तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्तिमान सूर्य के बिम्ब का आधा भाग आकाश में विलीन हो गया और आधा भाग दिखाई पड़ने लगा तो वह इस प्रकार सुशोभित हुआ जैसे सृष्टि के आदि में प्रजापति ब्रह्मा के नख द्वारा दो खण्डों में विभक्त ब्रह्माण्ड का एक खण्ड हो।"

ऊपर के इन तीनों श्लोकों में अस्तोन्मुख सूर्य की सुन्दरता के वर्णन के साथ साथ समासोक्ति, उत्प्रेक्षा तथा उपमा की कैसी मनोहर छटा है !

इसी प्रकार माघ के प्रभात वर्णन की भी एक झाँकी लीजिए—

विततपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः ।
कृतचपलविहंगालापकोलाहलाभिर्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तीर्यतेऽर्कः ॥
पयसि सलिलराशेर्नक्तमन्तर्निमग्नः स्फुटमनिशमतापि ज्वालया वाडवाग्नेः ।
यदयमिदमिदानीमंगमुद्यन्दधाति, ज्वलितखदिरकाष्ठाङ्गारगौरं विवस्वान् ॥
उदयशिखरशृंगप्रांगणेष्वेष रिंगन् सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः ।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः॥

सर्ग ११ श्लोक ४४, ४५, ४७

तथा

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः ॥

सर्ग ११, श्लोक ६४ ॥

"यह सूर्योदय के समय का वर्णन है। सूर्य पूर्व के क्षितिज पर विशाल गोलाकार रूप में दिखाई पड़ रहा है और उसकी किरणें पहले की अपेक्षा बड़ी हो कर सभी दिशाओं में फैल गयी हैं। मालूम होता है, यह सूर्य नहीं है, एक विशाल कलश है, जिसे दिशारूपी रमणियाँ चिड़ियों के कोलाहल के बहाने के साथ अपनी किरणरूपी रस्सियों में बाँध कर समुद्र के जल के भीतर से बाहर निकाल रही हैं। [रमणियों द्वारा इस प्रकार कुएं से बड़ा कलश निकालने के समय खूब कोलाहल होना ही चाहिए, उसका स्थान प्रातःकालिक चिड़ियों की चहचहाहट को दिया गया है।] इस प्रकार उदित सूर्य खैर की लकड़ी के अंगार की भाँति लाल वर्ण का दिखाई पड़ रहा है। ऐसा मालूम होता है कि जब वह रात के समय जलनिधि समुद्र के जल में डूब गया था तो उस समय समुद्र-स्थित बडवानल की ज्वाला से सन्तप्त हो कर अत्यन्त लाल हो गया था। बालक सूर्य उदयाचल के विस्तृत उच्च शिखरों पर चलने लगा। इधर चिड़ियाँ वेग से चहचहाने लगीं। उस समय

ऐसा मालूम होता है मानों आकाशरूपिणी माता अपने प्यारे पुत्र को अपने समीप बुला रही है और बाल सूर्य अपने करों (किरणों) को फैलाये हुए हँसते-डोलते उसके समीप पहुँच रहा है। (प्रभात के समय धीरे धीरे आकाश में ऊपर उठने वाले बाल सूर्य के प्रति कवि की कैसी सुन्दर कल्पना है !) और अब आगे चल कर प्रातःकाल हो गया, कुमुद बन की शोभा नष्ट हो रही है, और कमलों के बन की शोभा बढ़ रही है, उल्लू का आनन्द लुट रहा है और चक्रवाक दम्पति-प्रेम के पारावार में निमग्न हो रहे हैं। सूर्य का उदय हो रहा है और चन्द्रमा डूब रहा है। विचित्र दृश्य है। सचमुच; बुरे भाग्यवालों को परिणाम भी विचित्र ही मिलता है।"

इस प्रकार ऊपर के श्लोकों में प्रातःकालीन सूर्य के उदय का जो मनोहारि वर्णन कवि ने किया है, उसमें रेखा चित्र प्रस्तुत करने की सम्पूर्ण सामग्री है, साथ ही रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अतिशयोक्ति, तथा अर्थान्तरन्यास की छटा भी कितनी मनोज्ञ है! कवि ने जो उत्प्रेक्षाएं की हैं, उनका आधार भारतीय जीवन की शाश्वत वस्तुओं सेलिया गया है, कोरी उड़ान नहीं है। ग्रामीण वधुएँ जब झुण्ड की झुण्ड कुएं से घड़ा निकालने लगती है तथा माता ऊपर खड़ी हो कर जब नीचे खड़े अपने बच्चे को ऊपर बुलाने लगती है तो जैसा कुछ दृश्य हो सकता है, उसका विस्तृत वर्णन कवि ने किया है।

बाल जीवन की अनेक झाँकियों को कवि ने प्रकृति वर्णन के अनेक अवसरों पर सजाया है। उषा को रजनी की एक सद्योजात सुन्दरी कन्या की उत्प्रेक्षा में कवि की आँखों ने किस कल्पना से विमण्डित किया है, उसकी भी एक झाँकी लीजिए—

अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा बहुलमधुपमाला कज्जलेन्दीवराक्षी ।
अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव ॥

सर्ग ११, श्लोक ४०

"रात्रि के चले जाने पर प्रातःकाल की सन्ध्या अर्थात् उषा उसी के पीछे जाती हुई ऐसी सुशोभित हो रही है जैसी वह रजनी की सद्योजात सुन्दरी कन्या हो। वह कैसी सुन्दरी है। लाल कमलों की पंक्तियाँ तथा पँखुड़ियाँ मानों उसकी सुन्दर हथेली तथा अंगुलियाँ हैं, घूमने वाले भ्रमर वृन्द मानों उसकी आँखों के काजल हैं, तथा प्रफुल्ल कमल उसके सुन्दर नेत्र हैं और पक्षियों का कलरव उसका सुन्दर गान है।"

इसी प्रकार उदयाचल से ऊपर उठते हुए सूर्य को कवि ने समासोक्ति द्वारा एक राजा के रूप में अति सुन्दर चित्रित किया है—

क्षणमयमुपविष्टः क्ष्मातलन्यस्तपादः प्रणतिपरमवेक्ष्य प्रीतिमह्नाय लोकम् ।
भुवनतलमशेषं प्रत्यवेक्षिष्यमाणः क्षितिधरतटपीठादुत्थितः सप्तसप्तिः ॥

सर्ग ११ श्लोक ४८

"लोगों के देखते-देखते ही सूर्य की किरणें धरती पर छा गयीं। ऐसा लगता है मानों,

सूर्य भगवान् कुछ देर के लिए पृथ्वी पर पैर लटका कर उदयाचल रूपी सिंहासन पर विराजमान हैं। इधर संसार के जीव उनका ऐसा भव्य दर्शन पा कर प्रसन्न हो उठे हैं और उन्हें प्रणाम करने लगे हैं, यह देख कर उन्हें सम्पूर्ण धरती तल को एक बार घूम कर देख आने की लालसा हो गयी है। मानों इसी कारण से वे अपने उदयाचल रूपी सिंहासन से उठ खड़े हुए हैं।" प्रजाहितैषी राजा महाराजा लोग ठीक इसी प्रकार करते ही हैं। थोड़ी देर तक प्रजाजन को दर्शन देने के लिए सिंहासन पर नीचे की ओर पैर कर विराजमान होते हैं और फिर थोड़ी देर तक प्रजा का प्रणाम ग्रहण कर अपने सम्पूर्ण राज्य का दौड़ा करने के लिए उठ खड़े होते हैं।

इसी प्रकार माघ का प्रकृति वर्णन सर्वत्र अलंकारों से विभूषित है। कोई भी दृश्य बिना किसी नवीनता के नही चित्रित किया गया है। वृक्षों, लताओं, पर्वतों और नदियों के वर्णनों में उन्होंने उद्दीपन विभाव की चरम अभिव्यक्ति की है। श्रृंगार रस के तो वे सिद्धहस्त कवि थे। उनका वन विहार तथा जल क्रीड़ा वर्णन अपने ढंग का अनूठा है। यद्यपि ये स्थल अश्लीलता के दोष स सर्वथा मुक्त नहीं हे किन्तु यह अश्लीलता कहीं भी रोगग्रस्त नहीं है। कवि सर्वत्र उससे मुक्त दिखाई पड़ता है और पाठक भी मुक्त दृष्टि से ही उसे ग्रहण करते हे।

माघ के मानवीय आचार-विचार शास्त्रानुमोदित तथा भारतीय परम्परा से अनुप्राणित थे। कही भी उन्होंने शिष्टाचरण का अतिक्रमण नहीं किया है और न उनके किसी पात्र में ही इसका दुर्लक्षण हे। उनके चरित्र सजीव तथा स्वाभाविक हे। अतिमानवता के दुराग्रह में फँस कर उन्होने अपने आदर्श चरित्रों को आकाश मे नहीं उड़ाया है और न किसी कल्पना के द्वारा उन्हे धरती के पुतलों से दूर करने का यत्न किया है। यह सत्य है कि उनके महाकाव्य के नायक भगवान श्रीकृष्ण हें, जिन्हें उन्होंने लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु का सोलह कलाओं से पूर्ण अवतार माना है, किन्तु कहीं भी पौराणिक दन्तकथाओं अथवा दैवी सम्पदाओं से समृद्ध कर के उन्हें मानव कोटि से उन्होंने अत्यन्त ऊपर नही बैठाया है।

(क्रमशः)

आचार्य चतुरसेन

वैदिक साहित्य पर आसुरी प्रभाव

[गताङ्क से आगे]

आर्य संस्कृति पर आसुरी प्रभाव

आप यदि इस बात पर विचार करें कि आर्य संस्कृति पर इस आसुरी प्रभाव ने कितना गहरा रंग डाला तो उसके लिये पुराणों तथा महाभारत के पृष्ठ पलटिये; विश्वामित्र, पाराशर आदि ऋषियों के व्यभिचार-कार्य, रन्ति देव के घर प्रति दिन हजारों गायों का वध, शिव और कृष्ण के अश्लील वर्णन, इन्द्र और चन्द्र के ऋषिपत्नियों से व्यभिचार, तथा नित्य के जीवन में गोवध, इन सब बातों से यह प्रकट होता है कि किस प्रकार आसुरी संस्कृति ने आर्य संस्कृति पर प्रभाव डाला । और महीधर के भाष्य के आधार पर अश्वमेध यज्ञ में यजमान पत्नी का घोड़े से सहवास, शुनः शेप की कथा [1] जिसमें नर बलि का क्रूरतम उदाहरण है, इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में अजीगर्त का भयानक वर्णन इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि व्यभिचार, नरवध और पशुवध तथा मद्य मांस सेवन का सांस्कृतिक रीति से आर्य सभ्यता में प्रविष्ट हो गया ।

राम रावण युद्ध का प्रभाव

हम बता आये हैं कि इस दुर्धर्ष रावण को केवल दो स्थानों पर मुँह की खानी पड़ी-एक हैहयवंशी सहस्रवीर्य अर्जुन से और दूसरे कपिराज वाली से । परन्तु राम के भीषण संग्राम मे रावण का सपरिवार निधन हुआ । विजयी होने के लिये राम को दो कार्य करने पड़े, उन्हें कपिराज सुग्रीव और राक्षसराज विभीषण से सधि करनी तथा उनसे सहायता लेनी पड़ी । साथ ही उन्हें प्रसन्न करने तथा उनका विश्वास संपादन करने के लिये रामेश्वर में समुद्र के अंचल में लिंग स्थापन करके उसकी पूजा करनी पड़ी । और जब रावण का निधन हो गया तो रावण का राज्य विभीषण को देकर उसे राक्षसों का राजा स्वीकार करना पड़ा । परन्तु कालान्तर में पराजित राक्षस वंश पनप न सका । और राम के पुत्र कुश ने अफ्रीका महाखण्ड पर अधिकार कर उसका नाम कुशद्वीप रखा । इतना होने पर भी रावण कृत आसुरी संस्कृति नष्ट न हुई, विशेष कर इसलिये कि उसी ने यक्ष-रक्ष देव-गधर्व, और आर्यों के सब दल को एकत्र कर दिया था । राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से भी तब उसी का समर्थन करना पड़ा ।

---

१ ऋग्वेद मं० १ सू० १४ से ३० तक सायण भाष्य पढ़िये ।

हम कह चुके हैं तब महिदेव को राजनैतिक और आर्थिक दोनों अधिकार प्राप्त थे। रावण भी धर्मनियन्ता और राज्यशासक दोनों ही था। रावण के मरने पर राजसत्ता तो विभीषण के हाथ में गई,पर धर्म-सत्ता भारत के दक्षिणांचल में बसे हुए उस मिश्रित जाति की संपत्ति हुई जो आर्य, अनार्य और आर्येतर तथा आगन्तुक सभी के मेल से बनी थी तथा द्रविड़ कहलाती थी। इन्हीं द्रविड़ों ने ब्राह्मण बन कर आसुरी वैदिक सभ्यता को आगे चलाया। धीरे धीरे ये आचार उड़ीसा, बंगाल, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र में फैलने लगे। उन्होंने आर्यभाषा और अपनी भाषा ठीक-ठीक सीखी, फिर आर्य भाषा में जो नवीन ग्रन्थों की रचना की उसमें तीन बातों का ध्यान रखा गया—१—आर्यों के वे सब सिद्धान्त जो उनके प्रचार के बाधक नहीं थे स्वीकार कर लिए गए। उनकी खूब बढ़ा चढ़ा कर प्रशंसा की गई। २—आर्यों की गूढ़ बातों के जो सर्व साधारण की समझ से बाहर थी अभिप्राय बदल कर उनमें अपने मन्तव्य स्थापित किये गए। ३—साधारण बातों का विरोध कर के उनके स्थान पर अपने सिद्धान्त स्थापित कर दिए गए। यह एक ऐसी युक्ति थी, द्रविड़ों की आसुरी संस्कृति ने ऐसे रूप में आर्य संस्कृति में प्रवेश पाया कि पीछे दोनों घुल मिल कर एक हो गईं। इस एकीकरण के सिद्धान्त को दार्शनिक रूप दिया गया जिसके तीन मूल अवयव थे—उपनिषद्, गीता और वेदान्त। यही तीन ग्रन्थ द्रविड़-संस्कृति मे प्रस्थान त्रयी के नाम से विख्यात हैं।

उपनिषदों में आसुरी प्रभाव

छान्दोग्य उपनिषद् आसुर उपनिषद है।[1] यह बात छान्दोग्य ही में लिखी है। इस उपनिषद् मे इन्द्र (आर्य) और विरोचन (असुर) ये दोनों ऋषि के पास आत्मज्ञान सीखने जाते हैं, इसका वर्णन है। गुरु उनकी पात्रता की परीक्षा लेता है, इन्द्र संस्कृत और विरोचन मलिन प्रमाणित होता है। इन्द्र प्रत्येक बात पर तर्क करता है, पर विरोचन जो सुनता है उसी पर विश्वास करता है, तथा असुरों मे उन्ही सिद्धान्तों का प्रचार करता है।

'यह शरीर जैसा स्वच्छ था वैसा ही दर्पण में देखते हैं हे भगवन्, जिस प्रकार हम वस्त्रों से अलंकृत हैं उसी प्रकार हम दोनों अपने को दर्पण में देखते है।' तब प्रजापति बोले—यही आत्मा है, यही अमृत है। यही अक्षय है। यही ब्रह्म है। यह सुन कर दोनों चले गए।[2] तब प्रजापति ने कहा—'ये आत्मा को न पा कर न जान कर जा रहे है। ये नष्ट होंगे।' अब वह विरोचन असुरों के निकट जा कर कहने लगा, 'हम लोग स्वयं ही पूजनीय और सेवनीय हैं। इसलिए

---

१ असुराणां ह्येषा उपनिषद्। छान्दोग्य०

२ तौ होचुर्यथैवेदमवां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ
परिष्कृतौ च रावमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ
परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्
ब्रह्मेति तौह शांतहृदयौ प्रवव्रजतुः (छान्दोग्य ८।८।३)

यहाँ अपने आप ही को पूजता हुआ पुरुष दोनों लोकों को प्राप्त होता है।' इस प्रकार असुर अपने आपको ही आत्मा एवं अमर मानने लगे।[1] उन्होंने दान यज्ञ बन्द कर दिये क्योंकि प्रजापति ने उनसे कह दिया था कि "एष आत्मेति हो वाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति"। अर्थात् यही शरीररूप अमृत है, ब्रह्म है, आत्मा है। इसी आधार पर सब असुर प्रदेशों में—अफ्रिका, मिश्र, असीरिया, बेबिलोनिया आदि में अपने ही को ब्रह्म कहने की भावना जड़ पकड़ गई। इसी आधार पर मृतकों को मसालों से सँवारने, वस्त्राभूषणों से सजाने, और ममी तथा पिरामिड बनाने की प्रथा चली।[2] छान्दोग्य नें वेद विरोध भी किया। वहाँ लिखा है—'जिस प्रकार मछली को मछली मारने वाला जल में देखता है, उसी भाँति मृत्यु ने वेदों को ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद में स्थित देखा। वे देव मृत्यु को देख वेदों के स्वरों में प्रविष्ट हो गए।'[3]

याज्ञवल्क्य का विद्रोह

उस समय तक भी वेद का कोई संगठित रूप न था। न इस से पूर्व वेदमंत्रों की कही कोई व्याख्या ही थी। इसलिये रावण कृत इस कृष्ण यजुर्वेद को अनार्य असुर राक्षस-व्रात्य और दक्षिण के द्रविडों ही ने नहीं, सम्पूर्ण आर्यों ने स्वीकार कर लिया। और इन्द्र आदि देवता तक उसी आधार पर वलि तथा पशुवध करके आसुरी पद्धति से यज्ञ करने लगे।

इसका सर्व प्रथम विरोध किया याज्ञवल्क्य ने। उससे एक ही पीढ़ी पूर्व व्यास ने वेदों का संकलन और संपादन किया था। तथा उसके चार भाग करके अपने चार शिष्यों को उन्हे दे दिया था। वेदों का यह बटवारा बड़ा महत्वपूर्ण था। इसका महत्व राज्य के बटवारे से कम न था। यह बटवारा उन शिष्यों के वंश में परंपरा के लिये चलता रहा।

यजुर्वेद व्यास ने अपने प्रधान शिष्य वैशम्पायन को दिया था। जब वैशम्पायन अपने शिष्यों की यजु पढाने लगे तो उस में पशुवध, सुरापान, नरवध और स्त्रीसंभोग आदि आसुरी

---

१ तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचाऽनुपलभ्यात्मानमननुविध्य
व्रजतो यतरएतदुपनिषदो भविष्यन्ति। देवा वाऽसुरा वा
ते पराभविष्यन्तीति सह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुरान्
जगाम। तेभ्योहैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा—
परिचर्य आत्मानमवेह मह् यन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकानवाप्नोतीति
मंचा मुंचेति। (छ० उ० ८।८।४)

२ तस्मादप्यद्येहा ददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो
वतेत्यसुराणां ह्येषोपनिषद् प्रेतस्य शरीरम् भिक्षया वसनेनालंकारेणेति
संस्कुर्वन्ते तेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यत इति। (छान्दोग्य ८।८।५)

३ तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येवं पर्यपश्यदृचि
साम्नि यजुषि तेनु वित्त्वोर्ध्वाऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन्। (छान्दोग्य १।४।३)

तत्त्वों को देख कर उसका एकबारगी ही विरोध कर दिया। यह विरोध साधारण न था। शताब्दियों सहस्राब्दियों से चली आई हुई धर्म परंपरा का विरोध था। वैशम्पायन के सभी शिष्यों ने कृष्ण यजुर्वेद को स्वीकार किया, केवल याज्ञवल्क्य ने ही उसे त्यागा और सूर्य से उस ने शुद्ध यजु: का अध्ययन किया।[1]

इस घटना से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि यद्यपि याज्ञवल्क्य ने इस के विरोध में भारी प्रयत्न किया और प्रथक् ब्राह्मण शतपथ रच कर उसे पूर्णांग किया, फिर भी वैदिक संस्कृति पर से आसुरी छाया गई नहीं। और मद्य, मांस, पशुवध, नरवध तथा स्त्रीसहवास वैदिक यज्ञों का एक अनिवार्य अंग बन गया। ऋषि और मुनियों ने आसुर प्रभाव का विरोध भी किया, बहिष्कार भी किया पर उससे वह मिटा नहीं। क्योंकि वैदिक यज्ञों की कोई विधिविहित दूसरी परिपाटी प्रचलित न थी। व्यवस्थित रूप से याज्ञवल्क्य ने ही उसका विरोध किया और शतपथ ब्राह्मण सहित शुक्ल यजु: का सर्वथा आर्य संस्करण इस आसुरी प्रभाव से यथासंभव प्रथक् स्थापित किया।

जन्दावस्ता और छन्दवेद

केवल संहिता ही वेद है, संहिता नाम 'ज्यों के त्यों' मंत्रों का है। पाणिनि कहते हैं—पदों के अन्त का अन्य पदों के आदि के साथ संधि नियम से बाँधने का नाम संहिता है।[2] ऋक्प्रातिशाख्य का कहना है कि पदों की प्रकृति के वास्तविक रूप का नाम संहिता है।[3] प्राचीन काल मे मंत्रो के पद अलग न थे, संयुक्त ही थे, पर जब वेदार्थ पर मतभेद हुआ और 'न तस्य' को 'नतस्य' समझा जाने लगा तो पदों का विच्छेद पाठ जारी किया गया।[4] इस प्रकार एक एक की दो दो संहिताएँ हो गईं। यहीं से शाखाओं का आरम्भ हुआ। ब्राह्मण काल पीछे आया। शाखाओं

---

१ इस घटना को एक विचित्र रूप दिया गया है—एक दिन वैशम्पायन ने क्रुद्ध होकर याज्ञवल्क्य से कहा—तू हमारी दी हुई विद्या को उगल दे—इस पर याज्ञवल्क्य ने सब विद्या वमन कर दी—उसे अन्य शिष्यों ने तीतर बनकर चुग लिया—इसीसे इसका नाम तैत्तरीय संहिता हुआ—'व्यास शिष्यो वैशम्पायनो याज्ञवल्क्यादिभ्यः स्वशिष्येभ्यो यजुर्वेदमध्यापयत्। तत्र दैवात्केनापि हेतुना क्रुद्धो वैशम्पायनो याज्ञवल्क्यं प्रत्युवाच, मदधीतं त्यजेति। स योग सामर्थ्यान्मूर्तां विद्यां विधायोद्वाम। वांतानि यजूंषि गृह्णीतेति गुरूक्ता अन्ये वैशम्पायन शिष्यास्तित्तिरियोभूत्वा यजूंष्यभक्षयन् तानि तैत्तिरीयाणि यजूंषि जातानि। ततो दुःखितो याज्ञवल्क्यः सूर्यमाराध्यान्यानि शुक्लानि यजूंषि प्राप्तवान्। (महीधर कृत यजुर्वेद भाष्य)

२ परः सन्निकर्षः संहिता (अष्टाध्यायी १।४।१०९)

३ पदप्रकृतिः संहिता (ऋग् प्रातिशाख्य)

४ जटामालाशिखालेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः (व्याडिकृत विकृतवल्ली १।५)

के कारण ही गोत्रों का प्रचार हुआ। इस प्रकार आसुर प्रभाव से वेदों की बचाने के लिये बड़े बड़े उपाय किये गये। सबसे अधिक आसुरी प्रभाव अथर्ववेद के संगठन पर हुआ। उसका संगठन भी बाद में हुआ। ज़न्दावस्ता पारसियों की धर्म पुस्तिका तो उसीके अति निकट है। वैदिक साहित्य में अन्य नामों में एक नाम 'छन्द' भी अथर्व ही का है।[1] ज़न्द शब्द इसी छन्द का अपभ्रंश है। अवस्ता वेद का अपभ्रंश है।

'ज़न्दवस्ता' का अभिप्राय है 'छन्दवेद'।[2] अरबी के प्रसिद्ध विद्वान् और कुरान के महा-पण्डित श्री सेल ने अपनी कुरान की भूमिका में लिखा है कि—मुहम्मद ने अपने विश्वास यहूदियों से लिये है, यहूदियों ने पारसियो से।[3] परन्तु पारसियों के विश्वासों के संबंध में मार्टिन हांग का कथन है कि—'पारसियों के पुराने साहित्य गाथा में महात्मा जरदुस्त एक पुराने ईश्वरीय ज्ञान को स्वीकार करते है, अथर्व की प्रशंसा करते है और उस अंगिरा की प्रशंसा करते है जिसका वेदो में वर्णन है।[4] जिस गाथा में अंगिरा का वर्णन है वह यह है—

स्पन्तेभ अतथ्वा मज्दा में गही अह् रा ।
हचत मा वोहु पइरि जसत् मनंगहा ।
बक्षत् उष्यातुष्मा मइतिश वहिश्ता ।
नाहत् ना पोउरूश् ड्रेग्वतो स्यात् चिक्सुषो
अत् तो वीस्पेंग अंग्रेग अषाउना आदरे (गाथा य० १८।२२)

अर्थात् "हे अहुरमज्द, मैंने तुझे आबादी करनेवाला जाना, जब तेरा संदेश लानेवाला अंगिरा मेरे पास आया, तो उसने प्रकट किया कि संतोष सबसे उत्तम वस्तु है। एक पूर्ण पुरुष कभी भी पापी को राजी नहीं रख सकता क्योंकि वह सत्य ही का पक्ष करता है।"

[क्रमशः]

१ ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषामहे। (अथर्व० १८।४।२४)
तस्मात्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत (ऋग्–यजु–साम–अथर्व पुरुष सूक्त)

२—I still hold that the name of Zend was originally a corruption of the Sanskrit word छन्द, Chhanda, which is the name given to the language of the Veda by Panini and others. (Chips from a German Workshop. Vol. I, P. 88)

३—Mohammed borrowed from the Jews who learnt the names and offices of those beings from the Persians as they themselves confess. (Talmud Hieros and Roshbashan, Sale's Coran P. 5o)

४—In the Gatha (which are the oldest parts of the Zendavesta) we find Zarthushta alluding to old revelation and praising the Wisdom of Sooshyants, Atharvas, Fire-Priests. He exhorts his party to respect and revere the Angra. (Yas. XVIII,12) I. C. the Angiras of the Vedic Hymns— (Hung's Essays p. 294)

सम्पादकीय

हिन्दी लेखकों को पुरस्कार

इधर तीन-चार वर्षों से उत्तर प्रदेश की सरकार हिन्दी के श्रेष्ठ एवं मौलिक ग्रन्थों पर उनके कुछ लेखकों को पुरस्कार देने लगी है। ग्रन्थों के चुनाव एवं उनके लेखकों को दिये जाने वाले पुरस्कार के निर्णय के लिए उसने एक हिन्दी परामर्शदात्री समिति बनाई है। इस समिति के संचालन एवं निर्णयों के सम्बन्ध में साहित्यकारों में सन्तोष एवं विश्वास का भाव तो नहीं है और इसमें ग्रन्थों के मान की अपेक्षा पहुँच और संरक्षण की भावनाओं को भी स्थान देते हम देखते हैं; फिर भी सरस्वती की साधना में रत साधकों को जो भी सहायता सरकार की ओर से मिले, कम है। इस वर्ष के पुरस्कारों का निर्णय अभी तक इस प्रकार हुआ है—

१. श्री अलगूराय शास्त्री (ऋग्वेद रहस्य)	५००)
२. श्री दीनदयाल गुप्त (अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय २ भाग)	११००)
३. रेवरेण्ड फादर का० वुल्के (राम कथा)	११००)
४. श्री बेनीप्रसाद सिंह (स्वर्ग)	२५०)
५. श्री भगवानदास केला (हमारी आदिम जातियाँ)	५००)
६. श्री भगीरथ मिश्र (हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास)	८००)
७. श्री युधिष्ठिर मीमांसक (संस्कृत व्याकरण का इतिहास)	६००)
८. श्री रामगोविन्द त्रिवेदी (वैदिक साहित्य)	६००)
९. श्री रामअवतार (भारत की अध्यात्ममूलक संस्कृति)	५००)

अन्य कई विषयों मे निर्णय शीघ्र ही होने की आशा है।

बिहार में भी एक सरकारी संस्था बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, कुछ दिनों से, काम करने लगी है जिसके मंत्री हिन्दी के पुराने साहित्य-साधक श्री शिवपूजन सहाय हैं। इस संस्था ने भी हिंदी ग्रंथों पर कुछ पुरस्कार देना आरंभ किया है। इस वर्ष श्री पारसनाथ सिंह के 'जगत सेठ' ग्रंथ पर पुरस्कार दिया गया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अंगभूत संस्था राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने अपना 'महात्मा गांधी पुरस्कार' इस वर्ष वैदिक साहित्य के पुराने अन्वेषक आचार्य सातवलेकर को दिया है।

यह हर्ष की बात है कि धीरे-धीरे साहित्य निर्माण एवं साहित्यकारों की आर्थिक सहायता की ओर राज्य-सरकारों का ध्यान जाने लगा है। परन्तु इस दिशा में भारत-सरकार का मौन खिझाने वाला है—वस्तुतः उस दशा में जब उसके शिक्षा-विभाग का भाग्य एक महान् शैली-कार और साहित्यकार के हाथ में है। समय आ गया है, जब साहित्य निर्माण के कार्यक्रम को न केवल महत्त्व वरं प्राथमिकता मिलनी चाहिए। स्वतंत्र राष्ट्र की संस्कृति का निर्माण राजनीति के खिलाड़ियों की अपेक्षा जीवन की साधना में रत चिन्तकों पर अधिक निर्भर है।

राज परिषद् में साहित्यकारों का प्रतिनिधित्व

हमारे विधान-निर्माताओं ने बहुत सोच-समझ कर विभिन्न राजपरिषदों में कुछ स्थान साहित्यकारों, कलाकारों, वैज्ञानिकों आदि के लिए सुरक्षित रखे हैं। वे जानते थे कि चुनाव की कलाबाजियों में देश की आत्मा और हृदय का प्रतिनिधित्व करने वाले पार न पायेंगे। इसीलिए राज्यपालों एवं राष्ट्रपति द्वारा उनके निर्वाचन की पद्धति विधान में स्वीकार की गई है। हम इस ओर राज्यों के मुख्य मंत्रियों तथा राज्यपालों का ध्यान आकर्षित करते हैं तथा हमारा

विशेष निवेदन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद से है। वही हमारी आशा हैं। वह हिन्दी के प्रेमी और लेखक हैं तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष रह चुके हैं। हम चाहते हैं कि वे साहित्य के उन मूक साधकों को न भुलायें जो विज्ञापन-प्रधान आधुनिक समाज में अपनी निस्पृहता और मौन सेवा के कारण, पीछे से पड़ गए हैं। हमें आशा है कि इस सम्बन्ध में भारत की प्रतिष्ठित साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं से भी सलाह ली जायगी और इस प्रकार वास्तविक साहित्य-सेवकों का समादर किया जायगा।

भारतीय संस्कृति सम्मेलन

अभी मार्च के प्रथम सप्ताह में दिल्ली में प्रसिद्ध मनीषी श्री भगवानदास की अध्यक्षता में जो भारतीय संस्कृति सम्मेलन हुआ है उसमें, हमारी दृष्टि से, दो बहुत महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए हैं। पहले प्रस्ताव में कहा गया है कि सरकार को चाहिए कि वह अपने सब कामों में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग बन्द करने की अधिक से अधिक चेष्टा करे। सम्मेलन ने संसद के हिन्दी भाषा-भाषी सदस्यों से विशेष रूप से अपना काम हिन्दी भाषा में ही करने का अनुरोध कियाहै।

सब से महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव शिक्षा के भारतीयकरण के सम्बन्ध मे था। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। प्रस्ताव में कहा गया कि भारत की शिक्षा-प्रणाली मे इस बात की आवश्यकता है कि छात्रो मे अपने देश के प्राचीन इतिहास व उसकी महत्ता का ज्ञान हो और साथ ही ब्रह्मचर्य, तप, सत्य-पालन, संयम, सादगी, परस्पर भ्रातृ भाव, स्नेह तथा कर्तव्य बुद्धि से प्रेरित अनुशासन उनके जीवन के अंग हों।

इस प्रस्ताव को उपस्थित करते हुए डा० मंगलदेव शास्त्री ने ठीक ही कहा कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य आत्मचेतना होना चाहिए अर्थात् मनुष्य को एक व्यक्ति के रूप में ही नही अपितु एक राष्ट्र, जाति अथवा समाज-विशेष के अंग के रूप में अपने स्वरूप, महत्ता और गौरव का ज्ञान हो और वह अपने कर्त्तव्यों के पालन एवं आदर्शों की प्राप्ति के लिए बुद्धि पूर्वक प्रयत्न कर सके। यह उद्देश्य तभी सफल हो सकता है जब शिक्षा-प्रणाली पूर्णतया राष्ट्रीय हो और राष्ट्र की संस्कृति पर आधारित हो।

श्री शास्त्री ने भारत की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की आलोचना करते हुए कहा कि यह तो विदेश की उपज है। भारत की भूमि में न यह पनप सकती है, न फल दे सकती है। भारतीय संस्कृति संकीर्ण नहीं है, न वह किसी संप्रदाय-विशेष की वस्तु है। उसमें धर्मान्धता नही है। वह सदा प्रगतिशील रही है। वह तो सार्वभौम मानवधर्म का ही नामान्तर है। उसी भारतीय संस्कृति की उपेक्षा इस शिक्षा-प्रणाली में की गई है।

बड़े दुःख की बात है कि यद्यपि प्रायः सभी भारतीय चिन्तक एवं शिक्षाविद् बार-बार स्वीकार कर चुके हैं कि वर्त्तमान भारतीय शिक्षा-प्रणाली वंध्या है और उसमें भारतीय साधनों का व्यर्थ क्षय किया जा रहा है, फिर भी आज तक सुधार का कोई निश्चित पग नहीं उठाया गया। इस दिशा में समय समय पर जो सरकारी योजनाएँ बनाई गई हैं उनमें भी भारत की आत्मा के अखण्ड दर्शन का अभाव है; वे अपूर्ण एवं अधकचरे परिवर्तनों की ओर इंगित करते हैं। जब तक भारत की सम्पूर्ण आत्मा का दर्शन हमारी शिक्षा प्रणाली में न होगा तब तक भौतिक योजनाओं के भरोसे राष्ट्र के वास्तविक विकास की आशा दुराशा मात्र है।

—श्री रामनाथ 'सुमन'

पुस्तकालयों एवं पुस्तक-विक्रेताओं आदि की कमीशन दरों में नवीन परिवर्तन

पाठ्य पुस्तकों पर पच्चीस रुपये मूल्य से नीचे कोई कमीशन नहीं दिया जायगा। २५) रुपये से ऊपर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा। अन्य साधारण पुस्तकों पर पुस्तकालयों तथा पुस्तक-विक्रेताओं को ५) से ऊपर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

साधारण ग्राहकों को इन पुस्तकों पर २५) से ऊपर केवल २५ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

सम्मेलन की परीक्षाओं के परीक्षकों तथा सम्मेलन के अधिकृत उपाधिधारियों को सामान्य पुस्तकें २५ प्रतिशत कमीशन पर दी जायँगी।

५०० ... करेगा।

जो पुस ... तक की बिक्री करेंगे, उन्हें ५ ... २॥) प्रतिशत अतिरिक्त कमी ...

पार्सल ...

प्रत्येक ... रकम मनीआर्डर द्वारा अग्रिम में ...

...शन